मानवता की परख

• लेखक •

डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय

विद्यावारिधि न्याय व्याकरणाचार्य

भू. पू. प्राचार्य : सं. म. वि. झलोखर, हमीरपुर

प्रकाशक : डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय

संस्करण : प्रथम, १००० प्रतियाँ

तिथि : मकर संक्रान्ति, १४ जनवरी २००४

प्राप्तिस्थान :

१. श्रीविश्वक्सेनाचार्य, श्रीरंगमन्दिर, वृन्दावन
२. श्रीउमरावपाण्डेय, दैवज्ञ, शिवाजीनगर, अल्लापुरा, इलाहाबाद
३. श्रीविष्णुदत्त पाण्डेय, शिक्षक : गायत्री विद्या मन्दिर, लोहरदगा (झारखण्ड)
४. श्रीभवानीसिंह गौतम, एडवोकेट, हमीरपुर (उ.प्र.)
५. श्रीउमाशंकर शुक्ला, एडवोकेट, हमीरपुर (उ.प्र.)
६. श्रीगणेशदत्त शास्त्री, झलोखर, हमीरपुर (उ.प्र.)
७. सुबोधग्रन्थमाला, उपरबाजार, राँची (झारखण्ड)

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : १२ रुपये

मुद्रण-संयोजन :

श्रीहरिनाम प्रेस, हरिनाम पथ, लोई बाजार, वृन्दावन - 281121

दूरभाष : 0565-2442415

भूमिका

मनुष्य की सही पहचान न हो पाने की स्थिति में हम बार-बार धोखा खाते और हानि उठाते रहते हैं। बच्चों को सारे मानव एक से लगते हैं। वे अपने समान ही सबको छल कपट दम्भ स्वार्थ हिंसा आदि दोषों से मुक्त मानते हैं। आगे उनकी आयु की वृद्धि के साथ-साथ मानवीय दोषों की जानकारी में भी वृद्धि होती है। यही उनका सयानापन होता है।

भारत की अधिसंख्य जनता में हीनता की कल्पना है। जाति गुण कर्म शील और संस्कार से हीनता होती है। हीन व्यक्ति या समाज हीनतापूर्ण कार्य करता है। वह उदात्त मनःस्थिति नहीं पा सकता। इससे किसी को कोई कर्तव्य या अधिकार सौंपते समय उसके गुण-दोषों के अधीन उसकी क्षमता और योग्यता का ध्यान कर लेना चाहिये जिससे फलसिद्धिपर्यन्त हम आश्वस्त रहें। इसके लिये मानव के उत्कर्ष और अपकर्ष के नियामक मानव मात्र में रहने वाले गुणों में न्यूनाधिकता की पहचान करने का अभ्यास करना चाहिये। यह पहचान अपने में आसानी से होती है। इससे अपना सुधार भी होता है। जीवन विकसित होता है और समाज का भी हित होता है। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत निबन्ध लिखा गया है।

विषय-सूची

मानवता की परख

आजकल राजनीतिक जगत् में मानवता शब्द का बहुत उपयोग हो रहा है। माना जाता है कि यह शब्द सारे मानव में रहने वाली किसी विशेषता को संकेत देता है। यदि मानवता कोई जाति हो तब तो कोई दिक्कत नहीं है। जाति नित्य व्यापक और एकरूप होती है। किन्तु जातिवाद का विरोध दार्शनिक जगत् में भी है। कुछ लोग जाति मानते हैं तो कुछ लोग प्रबल विरोध करते हैं। उनके विरोध का सामना करना आसान नहीं है। ऐसी स्थिति में मानवता शब्द जो व्याकरण से मिला है इसका सही अर्थ करने का दायित्व शब्दशास्त्रियों का बढ़ जाता है।

मनु शब्द से अपत्य (सन्तान) अर्थ में अण् प्रत्यय करने से मानव शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है मनु (आदि पुरुष) की सन्तान। दूसरों ने मानव को आदमी, इन्सान, मैन आदि कहा है। प्रत्येक शब्द का कोई विशिष्ट अर्थ है। उसे समझना चाहिये। मानव शब्द से भाव अर्थ में तल् प्रत्यय करने से मानवता शब्द बनता है। ''प्रकृत्यर्थे प्रकारीभूतो धर्मो भाव-प्रत्ययेन बोध्यते'' इस नियम से मानव कहने पर नियमित रूप से मानव में जो जो विशेषतायें समझ में आती हैं वह सब तल् प्रत्यय के अर्थ हैं।

वह विशेषतायें हैं पशु-पक्षियों से अलग करने वाला बोलता ढांचा, ज्ञान और भावनायें। जड़ मूर्तियों में और यन्त्रमानव में उक्त तीनों बातें नहीं होतीं इससे उन्हें मानव नहीं कहते। घनीभूत ज्ञान को भावना कहते हैं। जो ज्ञान भावना का रूप नहीं ले पाता वह उपयोगी नहीं होता। इसी से छात्रों को पढ़े हुए विषयों को दुहराना पड़ता है। भावना ही मानव की सही पहचान है। ज्ञान से ही भावना बनती है इससे कुछ लोग ज्ञान को प्राथमिकता देते हैं। किसी भी अर्थ में स्थायी रूप से रहने वाले भाव को उसका धर्म कहते हैं। यदि वह धर्म उस अर्थ की पहचान बनता है तो वह उसका मुख्य धर्म कहलाता है। भावना मानव का मुख्य धर्म है। जो पशुओं से इसे अलग करती है। इससे प्राचीन नीति श्लोक में 'ज्ञानं हि तेषामधिको

विशेषः'' और ''धर्मो हि तेषामधिको विशेषः'' ये दोनों पाठ समानरूप से आदरणीय हैं। पूरा श्लोक इस प्रकार है-आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्। ज्ञानं हि (धर्मोहि) तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन (धर्मेण) हीनाः पशुभिः समानाः।। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष हुआ कि पशुपक्षियों से भिन्न भावना ही मानवता है।

चूंकि ज्ञान से ही भावना बनती है और ज्ञान का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इससे भावनायें एक सी तो नहीं होतीं, उनका वर्गीकरण भी बहुत कठिन है। ऐसी स्थिति में मानवता शब्द का वास्तव अर्थ क्या होगा यह निश्चित नहीं हो पा रहा है। समाधान ऐसा हो सकता है कि ज्ञानार्जित भावनायें मानव की मूल भावना को प्रभावित करती हैं। जन्मजात सर्वसाधारण भावनाओं को मूलभावना कहते हैं। आत्मरक्षा की इच्छा सभी मूलभावनाओं का भी मूल है। आत्मरक्षा के लिये मानव हजारों सही गलत काम करता है। ज्यों-ज्यों अध्ययन बढ़ता है त्यों-त्यों उसके व्यवहारों में सुधार आता जाता है। मूल भावना की नयी सुन्दर उपयोगी शाखायें प्रकाश में आने लगती हैं। ये शाखायें सृष्टि के आरम्भ से ही मानव में सूक्ष्म और विशद रूप से देखी जा रही हैं। इससे इन्हें मानव का सनातन धर्म कहा जाता है।

वास्तव में मानवता ऐसी कोई ठोस पहचान नहीं है जो सबकी समझ में आसानी से आये और जिसके द्वारा सारे मानव एक माने जा सकें। फिर भी मानवता कहने से जो भी समझ में आता है उसे कोई एक धर्म या जाति मानकर व्यवहार होते हैं। सामान्य ज्ञान और व्यवहार तत्त्वनिर्णय में बहुत बार अवश्य सहायक होते हैं किन्तु बहुत बार निर्णय के समय उन्हें गलत मानकर छोड़ना पड़ता है। ज्यादा व्यवहार गलत रूढ़ियों पर निर्भर होते हैं।

मानवता कभी-कभी मानव-मानव सम्बन्ध के रूप में भी समझी जाती है। यहाँ भी गलत रूढ़ि ही काम करती है। समान-शील और व्यसन के कारण एक की दूसरे के प्रति सहानुभूति होती है या आत्मीयता प्रतीत होती है, वहाँ मानवता को कारण माना जाता है। वस्तुतः वहाँ शील और व्यसन ही मानवता होती है। अच्छे मानव में अच्छी मानवता होती है और बुरे मानव में बुरी। दुर्गुणों से कभी-कभी मानवता दब जाती है और सद्गुणों से मानवता में निखार आ जाता है। कुछ गुण मानव को महामानव बना देते हैं।

गुणों के अभाव में ब्राह्मण आदि व्यवहार अच्छा नहीं लगता वैसे ही गुणों के अभाव में मानव कहना भी पसन्द नहीं पड़ता। जिन गुणों के होने से हम किसी भी व्यक्ति को मानव के रूप में स्वीकार करते हैं और जिनके न होने से मानव कहने मानने में हिचकते हैं वे गुण ही मानवता की परख हैं। उन गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष के अधीन होता है मानव का भी उत्कर्ष और अपकर्ष।

तो आइये हम पहले उन गुणों का सर्वेक्षण करें। बाद में उनके विकास सुधार और संस्कार के उपायों पर विचार करेंगे जिनसे मानवता विकसित होती है। यद्यपि आत्मरक्षा की इच्छा और प्रवृत्ति प्राणिमात्र का स्वभाव है किन्तु मानव में इसकी अधिक अभिव्यक्ति होती है इससे इसे मानव की मूल भावना कहा जाता है। इसे संस्कृत में धृति कहते हैं। आत्मा के प्रयत्न नाम के गुण में इसका अन्तर्भाव है। इसकी अभिव्यक्ति त्रिगुणात्मक मन के माध्यम से होती है। सत्त्व रज तम गुणों के तारतम्य से धृति के बहुत से भेद हो जाते हैं। धृति की पुत्री है क्षमा जिसे सहिष्णुता भी कहते हैं। यह गुण साधुओं में होता है। चोरों में भी यह अपने ढंग का होता है। हर व्यक्ति को अपने स्वरूप शील और सम्पदा की रक्षा के लिये इसे अपनाना पड़ता है। इसे मर्ष और तितिक्षा भी कहते हैं। किसी भी अनिष्ट के कारण होने वाले दुःख को ज्ञान-विवेक और धैर्य के द्वारा रोकना ही तितिक्षा है। महान् व्यक्तियों में यह गुण अधिक होता है। प्रयत्न में ही इसका भी अन्तर्भाव है।

जिसका मन विषयों के लिये नहीं मचलता उसी में यह तितिक्षा गुण ठहरता है। कुसंस्कारवश विषयाभिलाष होते हैं। ज्ञान, विवेक और धैर्य से संस्कार दबते हैं। कुसंस्कारों का दबना ही दम कहलाता है। यह भी मानव के लिये एक आवश्यक गुण है। इसके अभाव में मानव समाज में तुच्छ माना जाता है। महान् लोग अपनी प्रतिष्ठा के लिये इस गुण की वृद्धि का ध्यान रखते हैं। इसका अन्तर्भाव संस्कार नामक गुण के अन्दर है। अपनी रक्षा के लिये अपने में विजातीय तत्त्वों के मिश्रण को रोकना पड़ता है। अन्यथा अपना रूप ही बिगड़ जाता है। व्रती सुरा के गन्ध से बचता है और शराबी दूध पीना नहीं चाहता। ऐसे ही पराये धन के स्वीकार हरण या आहरण से भी दूसरे के पाप-पुण्य और उसकी भावना का संक्रमण

अपने में होता है। इससे विवेकी लोग परधन से अपने को बचाते हैं। यही अस्तेय कहलाता है। परधन की हेयता की भावना ही अस्तेय है। संस्कार नामक गुण में इसका भी अन्तर्भाव है। अशुद्ध स्थान, बिस्तर, वस्त्र व्यक्ति आदि के सम्पर्क से कभी-कभी दुःस्वप्न होते हैं। भावना भी दूषित होती है। अच्छी भावना की रक्षा के लिये बाहरी भीतरी शुद्धि का ध्यान रखना पड़ता है। यही शुचिता है। इसके अभाव में मनुष्य की उत्तरोत्तर अधोगति हो जाती है। अगली पीढ़ी भी गिर जाती है। ज्ञान इच्छा और प्रयत्न में इसका अन्तर्भाव है। उपर्युक्त. धृतिक्षमादम अस्तेय और शुचिता नामक पाँच गुणों की रक्षा और विकास इन्द्रियजय पर निर्भर करता है। इन्द्रियों को विषयों से दूर रखना ही इन्द्रियजय है। प्रयत्न गुण में इसका अन्तर्भाव है। ज्ञान के बिना यह गुण दुर्लभ होता है। विषयों का विस्तार अनन्त है। सभी विषयों की वास्तविकता समझे रहना ही अपेक्षित ज्ञान है। इसके लिये अनेक शास्त्रों का परिचय मनन और चिन्तन अपेक्षित होता है। ज्ञान की पूर्ति अध्यात्मविद्या से होती है। इसके विना मानवता अधूरी होती है। चरित्र में त्रुटियाँ रह जाती हैं। क्योंकि पशुतुल्य देहाभिमान बना रहता है। पिछले वर्तमान और भावी पापों और पाप प्रवृत्तियों के नाश के लिये प्रत्येक मानव के लिये यथासाध्य अध्यात्मनिष्ठा अपेक्षित होती है। सामान्य ज्ञान और अध्यात्म ज्ञान दोनों स्वतन्त्र गुण हैं। इनके प्रति थोड़ा बहुत झुकाव मानव मात्र का जाने-अनजाने हुआ करता है। इससे पूर्वोक्त छः गुणों के साथ इन दोनों को भी सनातन धर्म कहा जाता है। सत्य को सभी लोग मुख्य धर्म मानते हैं। इसके अभाव में सदा सभी लोग अपमानित होते हैं। ज्ञान व्यवहार और भाषण इन तीनों में सत्य अपेक्षित होता है। ऐसे सत्य धर्म का पालन आत्मनिष्ठ व्यक्ति ही कर सकता है। आत्मनिष्ठा के अभाव में देहाभिमान अनेक व्यावहारिक दोष उत्पन्न करता है। इससे सत्यधर्म बाधित होता है। सत्यनिष्ठ या आत्मनिष्ठ व्यक्ति को काम क्रोध या क्षोभ यथार्थ से विचलित नहीं करता।

वास्तव में यथार्थ से बिचलित होना क्रोध कहलाता है। बिचलित न होना अक्रोध कहलाता है। यह प्रथम गुण धृति का प्रमाण और पूरक होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त आठ गुणों से जुड़कर सत्य और अक्रोध, धर्म के लक्षणों की दश संख्या पूरी करते हैं।

यहाँ भृगु का अति प्राचीन निम्न श्लोक याद रखने योग्य है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।

दशकम् माने दश का समूह होता है। उपर्युक्त दश गुणों के समूह को धर्म की पहचान कहा गया है। इससे उक्त में से एक दो या नव भी पहचान नहीं बन सकते। उक्त दश गुणों का समूह ही पहचान होता है। लोक में प्रत्येक गुण को स्वतन्त्र रूप से धर्म कहा जाता है। दोनों धारणाओं में वास्तविक विरोध नहीं है।

उक्त प्रत्येक गुण स्वतन्त्र रूप से धर्म के साधन हैं। साधन के लिये भी साध्यवाची शब्द का प्रयोग होता है। प्रत्येक प्राणी के जीवन का आधार उसका पूर्वार्जित धर्म होता है। प्रत्येक का धर्म सबसे भिन्न प्रकार का होता है। सामान्य धर्म जीवन को सामान्य स्थिति में रखता है। निकृष्ट धर्म अधोगति कराता है। पुष्टधर्म जीवन को उन्नत और आगे भी उन्नत बनाता है। उक्त दशगुणसमूह पुष्ट धर्म की पहचान बनता है। जब प्रत्येक को लक्षण कहा जाता है तो वह स्वरूप लक्षण होता है। तब लक्षण ही लक्ष्य होता है। जब उक्त दश गुण समूह को लक्षण कहा जाता है तो वह तटस्थ लक्षण होता है। तब लक्ष्य लक्षण से अतिरिक्त होता है। उक्त दश गुण धर्म के बीज हैं। ये धर्म से होते हैं और आगे धर्म उत्पन्न भी करते हैं। ये गुण मानवमात्र में न्यूनाधिक रूप में होते हैं इससे इन्हें मूल भावना भी कहते हैं। मानवता की परख इनसे ही होती है। इससे इन्हें ठीक से समझने की आवश्यकता है।

इन दश लक्षणों को बढ़ाकर देवर्षि नारदजी ने युधिष्ठिर को तीस रूपों में समझाया है। व्याख्या की कुशलता से तीस से अधिक संख्या भी हो सकती है। गुण बहुत रूप धारण करते ही हैं। यही गुणों का गुणत्व है।

अब हम उक्त-गुणों का विशद विवरण करेंगे जिसमें देवर्षिनारदोक्त तीस लक्षण समाहित हैं।

१. धृति—धृङ् अवस्थाने धातु से भाव में क्तिन् प्रत्यय करने से धृति शब्द बनता है। इसका सामान्य अर्थ होता है रहना, टिकना, अपने आधार से उचित रूप से सम्बन्ध कायम रखना, विचलित न होना आदि।

प्रकृत सन्दर्भ में चित्त की धृति कही गयी है। इससे चित्त का अपने निर्णीत रूप, विशेषण या कर्त्तव्य से विचलित न होना अर्थ होता है। भगवद्गीता में सात्विक-भेद से धृति के तीन भेद बतलाये हैं। सात्त्विक राजस तामस प्रकृति के लोग योगाभ्यास करते हैं। यदि उन्हें अविचल धृति प्राप्त रहती है तो पहले वे जितेन्द्रिय होते हैं। इससे इन्द्रियों को उचित लक्ष्य से ही जोड़ते हैं। प्राणायाम में उन्हें अच्छी प्रगति होती है। और चित्त को अपेक्षित लक्ष्य में स्थिर करने की अधिक क्षमता रखते हैं। राजस-प्रकृति के लोग अर्थ-काम-परायण होते हैं। लौकिक फलों की इच्छा से ही लौकिक और शास्त्रीय कर्म करते हैं। यदि उन्हें राजस धृति प्राप्त रहती है तो अपनी सम्पत्ति की, सुख भोगों की और अर्थ काम पूरक धर्मों की रक्षा करते और विधिवत् अनुष्ठान भी करते हैं। तमोगुणी लोग अज्ञान प्रमाद आलस्य कृत्रिम भय शोक विषाद दुरभिमान नशा और निद्रा में जीना पसन्द करते हैं। उनकी बुद्धि विपरीत होती है। कल्याणकारी सुझाव कभी पसन्द नहीं करते। उनकी तामस धृति उनके दुर्गुणों की रक्षा करती है। धर्म के लक्षणों में मुख्यरूप से सात्त्विक राजसधृति का ही अन्तर्भाव है। वाममार्गी तन्त्रों के अनुष्ठान में सुरा मत्स्य मांसादि का भी उपयोग होता है। उन अनुष्ठानों से लौकिक सिद्धियाँ देखी जाती हैं किन्तु उनसे अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुभूत धर्म की सिद्धि नहीं होती। उन अनुष्ठानों का निर्वाह कराने वाली धृति धर्मका लक्षण नहीं है।

राजनीति कला, व्यापार, उद्योग जैसे धन्धों में बार-बार विघ्न होने या विफलता होने पर भी आजीवन लगे रहना भी धृति का ही फल है। मानव की अच्छाई का मूल्यांकन उसकी धृति से ही होता है। यह सभी अच्छे गुणों का आधार है। इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है। समाज में चार प्रकार के मानव देखे जाते हैं। १-दलबदलू २-समाज विरोधी ३-उपायों से सुधरे और ४- शुरू से अच्छे। प्रथम वर्ग में धृति दुर्लभ होती है। दूसरे वर्ग में विपरीत धृति होती है। तीसरे वर्ग में जोड़ी गयी धृति होती है। और चौथे वर्ग में सहज और कल्याणकारी धृति होती है। इस धृति को ही धर्म का लक्षण कहा गया है। अच्छाई के भेदों से इस धृति के लाखों भेद हैं। चतुर्थ वर्ग के लोग अपनी मानी हुई अच्छाई के त्याग या उपेक्षा की बात कभी भी हृदय में आने नहीं देते। हर विषम स्थिति में बड़ा से बड़ा

बलिदान करके भी अपनी उस अच्छाई को सुरक्षित रखते, मजबूत करते बढ़ाते और सँवारते रहते हैं। इसके लिये उन्हें अगले आठ गुणों का सहारा लेते रहना पड़ता है। गुणपूर्ति की पहचान दसवें गुण अक्रोध से होती है।

भारतवर्ष में धर्म के हजारों सम्प्रदाय चल रहे हैं। कुछ सात्त्विक कुछ राजस और कुछ तामस एवं मिश्र हैं। किसी सम्प्रदाय और उसके क्रियाकलाप में निष्ठा धृति ही है। वैदिक तान्त्रिक सभी प्रकार के धर्मानुष्ठान, ईश्वर की नवधा भक्ति, आचार्य की सेवा, कथा, पूजा आदि कर्म धृति के ही फल हैं।

२. क्षमा—इसके दो प्रमुख भेद हैं। अपराध-सहन और त्रितापसहन। यह गुण उन ज्ञानियों में पूर्णरूप से रहता है जो सृष्टि की सारी घटनाओं का मुख्य कारण सदा ईश्वरीय संकल्प को मानते हैं। अहंकार रहित होने से उन्हें अपने विपरीत कुछ नहीं लगता है। जो ऐसे नहीं होते उनकी क्षमा दुःख क्रोध ईर्ष्या आदि भावों से मिश्रित होती है। उस क्षमा का फल भी अधूरा होता है। सब प्रकार की तपस्या क्षमा से पूरी होती है। क्षमा स्वयम् एक बड़ी तपस्या है। ईश्वर के समग्र ऐश्वर्य का स्वीकार अहंकार के निवारण से ही होता है। अहंकार का निवारण प्राणरोध से कम कष्टमय नहीं होता। देहाभिमान को अहंकार कहते हैं। गर्भस्थ शिशु के शरीर का आरम्भ अहंकार से ही होता है। शरीर के सभी यन्त्रों के सञ्चालन में मूल कारण अहंकार ही होता है। मृत्युकष्ट सहित त्रिताप की अनुभूति अहंकार से ही होती है। अध्यात्मविद्या का प्रबल प्रतिबन्धक अहंकार और अहंकार का नाशक अध्यात्म-विद्या होती है। ईश्वरीय संकल्प से जिसका संसार छूटने वाला होता है वही वास्तव में अध्यात्मनिष्ठ होता है। उसी का अहंकार अतिशिथिल होता है। वास्तव क्षमाशील वही होता है। इससे क्षमागुण की दुर्लभता और तत्त्वनिष्ठा की आवश्यकता समझ में आती है।

३. दम—शम दम ये दोनों सहचारी शब्द हैं। एक का अर्थ मनोनिग्रह और दूसरे का इन्द्रियनिग्रह माना जाता है। यहाँ दम का तात्पर्य मनोनिग्रह में है क्योंकि श्लोक में इन्द्रिय निग्रह अलग से कहा गया है। कहावत है कि मन के हारे हार है, मन के जीते जीत। मन पर विजय के बिना लौकिक कोई भी कार्य पूरा नहीं होता। छात्र पढ़ नहीं पाता, नौकरी निबहती नहीं, घर के झगड़े समाप्त नहीं होते, धन की रक्षा नहीं होती। रोग से छुटकारा

नहीं होता, गन्तव्य तक पहुँचा नहीं जाता। इन सब कार्यों के लिये सामान्य मनोनिग्रह की आवश्यकता होती है। जब कार्य महत्त्वपूर्ण करना होता है तब अपेक्षित मनोनिग्रह का स्तर बढ़ जाता है। तत्त्वनिष्ठा, आत्मनिष्ठा, भगवन्निष्ठा, अहंकारत्याग, तपोनिष्ठा आदि के लिये विशेष मनोनिग्रह की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में ही कहना पड़ता है कि "कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव"। जैसे होली के हुरदंगी बालक शरीर पर कीचड़, रंग, गाली, विरूपता आदि की चिन्ता नहीं करते और प्रसन्न रहते हैं वैसे कलि के वेदान्ती विद्याओं की कुछ पंक्तियां बोलते रहते हैं और पंक्तियों के तात्पर्य के विरुद्ध अपना जीवन बिगाड़ते रहते हैं। इन्द्रियाँ विषयों से जुटकर मन के सहारे अनुभव उत्पन्न करती हैं। प्राचीन वासनाओं के सहारे अनुभव ही सुख या दुःख का रूप ले लेते हैं। फिर सुखमय विषय की प्राप्ति की इच्छा और दुःखमय विषय से बचाव के लिये द्वेष की उत्पत्ति होती है। बाद में प्राप्ति और बचाव के लिये प्रयत्न होते हैं। अनुभव से लेकर प्रयत्न तक चित्त की चार भूमिकायें होती हैं। मन ही विषयों से जुड़कर चित्त कहलाता है। जागरूक विवेक अनुभवों को विफल करता रहता है। वासनाओं को जगने नहीं देता इससे सुख-दुःख नहीं होते। इनके अभाव में इच्छा द्वेष प्रयत्न नहीं होते और पुरुष पाप-पुण्यमय संसार से बच जाता है। यदि प्रमादवश सुख-दुःख हो गये तो सावधान चित्त विवेक के सहारे इच्छा द्वेषों को रोकता है। वहाँ भी प्रमाद होने पर प्रयत्न पर अंकुश लगाता है। चित्त की तत्परतापूर्ण यह प्रयत्न ही दम कहलाता है।

यहाँ गोस्वामी तुलसीदास जी का यह दोहा याद रखने योग्य है-

दीपशिखासम नारितन, मन जनि होसि पंतग।
भजसि काम तजि रामपद, करसि सदा सत्संग।।

नारी संसार के सभी विषयों का केन्द्र विन्दु है। नारी नारियों को भी लुभा लेती है। किन्तु यदि विवेक जागरूक हो तो नारी न-अरी (काटने वाली) हो जाये। नारी को पुरुष से इसलिये जोड़ा जाता है कि इससे पुरुष विवेक प्राप्त करके संसार सागर को मृगमरीचिका के तुल्य समझकर शान्त रहे और स्थायी शान्ति मुक्ति के लिये प्रयत्नशील हो। किन्तु प्रमादी मानव प्रयत्न से दूर रहता है।

४. अस्तेय—चोरी न करना अस्तेय कहलाता है। भले लोग स्थूल चोरियों से बचे रहते हैं। पड़ा हुआ भी परधन नहीं छूते। किन्तु सूक्ष्म चोरियाँ अनजाने भी हो जाती हैं। उनका बुरा फल भी होता है। एक कल्पित उदाहरण लें। गौरैया किसी घर की दीवार पर घोंसला बनाये थी। उसे अण्डे देने थे। तभी गृहस्वामी ने घोंसला हटाकर घर साफ कर लिया। गौरैया को जमीन पर अण्डे देने पड़े। कुत्ता अण्डे खा गया। गौरैये ने धनाढ्य गृहपति को कंगाल बनाना ठान लिया। पास में शिलोञ्छवृत्ति ब्राह्मण की कुटिया थी। ब्राह्मण ने बीन बीनकर लाये दानों को सूखने के लिये डाल दिया था। गौरैया ने उससे एक-एक कर सैकड़ों दाने चुगकर धनपति की कोठी में डाल दिये। ऐसा उसने बहुत बार किया। इससे अनजाने में उसके खजाने में ब्राह्मण की दरिद्रता घुस आयी और वह दरिद्र हो गया।

ऐसी घटना अनजाने भी हुआ करती हैं। कुफल से बचने के लिये अच्छे लोग ऐसी घटनाओं से बचते हैं।

स्तेय से चित्त दूषित होता है। इसका एक उदाहरण लें। एक सन्त अपरिग्रही थे। किसी गाँव में पहुँचे। एक भले आदमी ने उन्हें अपने घर पर सादर आमन्त्रित किया। भोजन के लिये कच्चा सामान और बर्तन दिये। उन्होंने भोजन बनाकर प्रभु को विधिवत् भोग लगाया और प्रसाद ग्रहण किया। कुछ देर आराम किया। और चलने को तैयार हुए तब उन्हें बर्तन मांजकर छोड़ना उचित मालूम हुआ। माँजने के बाद बर्तनों को वे अपने साथ लिये चले। कुछ दूर चलने के बाद अपनी इस नयी दुर्बुद्धि पर बड़ा पछतावा हुआ। उन्हें अपने स्वभाव में सहसा ऐसे परिवर्तन पर बहुत आश्चर्य भी हुआ। वे लौटे और गृहपति की जीविका और अन्न की उपलब्धि की जाँच की। पता चला कि वह अन्न घृणित तस्करी से मिला था। उस अन्न के दोष से ही उनकी बुद्धि में परिवर्तन हुआ था। उन्होंने बर्तन लौटाये और दूर जाकर उपवास व्रत और जप से चित्त शुद्धि प्राप्त की। दूषित अन्न पेट में जाकर चित्त को दूषित करता है। दूषित सोना या रुपये अपने अधिकार में आते ही दोष उत्पन्न करते हैं। यदि कोई चोर, चोरी के रुपये अपने नाबलिग पुत्र के नाम बैंक में जमा करता है तो वह नाबलिग पुत्र अनजाने ही चोरी में लिप्त हो जायेगा। धन निश्चित रूप से चित्त दोष उत्पन्न करता है। इससे सभी प्रकार के स्तेयों से अपनी रक्षा का ध्यान

रखना चाहिये। धर्ममय जीवन वाला व्यक्ति स्वभाव से ही स्तेय से बचता रहता है। सामान्य व्यक्ति शास्त्रज्ञान सत्संगादि से प्रभावित होकर अपनी रक्षा करता है। निकृष्ट व्यक्ति अस्तेय का प्रदर्शन करता है और गिरा हुआ व्यक्ति दण्ड पाता हुआ भी स्तेय में ही लिप्त रहता है।

५. शौच—अस्तेय और शौच मिलते-जुलते गुण हैं। अस्तेय अर्थ शौच के अन्दर आता है। अस्तेय से सारा शौच सुलभ हो जाता है। शास्त्रीय कर्म करने के लिये शरीर की शुद्धि आवश्यक होती है। शरीर में मलमूत्र से, अभेध्य द्रव्य संसर्ग से, निन्दित जन स्पर्श से, जन्ममृत्यु से, नित्यकर्म त्याग से परधनदूषित भावना से और कालदोष से अशुद्धि आती है। इन अशुद्धियों से बचाव शौच कहलाता है। सबसे बड़ी अशुद्धि दूषित भावना होती है। भगवत्स्मरण से भावना सुधरती है और सम्पूर्ण पवित्रता प्राप्त हो जाती है। इसी से पूजा के पहले "अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः।" यह श्लोक पढ़ा जाता है। चोर भगवत्स्मरण नहीं कर पाता। वह सदा अशुद्ध ही रहता है। इसी से अर्थ शौच को प्राथमिकता दी जाती है।

६. इन्द्रियनिग्रह—घ्राण रसना चक्षु त्वक् और श्रवण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनसे क्रम से गन्ध रस रूप स्पर्श और शब्द का ज्ञान होता है। हस्त पाद जिह्वा उपस्थ और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इनसे क्रम से आदान गमन भाषण एवम् मूत्रमल त्याग होता है। मन अन्तर इन्द्रिय है। यह उक्त दोनों इन्द्रिय वर्गों का सहायक है। साथ ही आत्मा के नौ में से छः गुणों का साक्षात्कार भी करता है। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ये आत्मा के नौ विशेष गुण हैं। अन्तिम तीन को मन पकड़ नहीं पाता।

यदि आँखें खुली हैं तो संसार दीखेगा, नाक के छिद्र खुले ही रहते हैं, सुगन्ध-दुर्गन्ध मिलती ही हैं, कानों में ढक्कन नहीं होते, शब्द सुनाई पड़ते ही हैं, जो छूने में आता है उसका गरम ठंडापन या मृदुता रुक्षता कठोरता समझ में आती ही है, ज्ञान होता है, सुख-दुःख होते हैं, इच्छायें होती हैं, द्वेष भी होते हैं, यह सब स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में इन्द्रिय निग्रह क्या हो सकता है। इसका उत्तर भगवान् ने गीता में दिया है-श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्टवा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा स

विज्ञेयो जितेन्द्रियः।। भगवान् कहते हैं कि विषयों का अनुभव दोष नहीं है बल्कि अनुभव से होने वाली अनुकूल प्रतिकूल कल्पना और उससे होने वाले सुख-दुःख और सुख की वृद्धि तथा दुःख के निवारण के प्रयत्न यही दोष हैं। विवेकी मनुष्य विषयों में हेयोपादेयता की कल्पना नहीं करता। इन्द्रियाँ विषयों से जुटकर हमारे चित्त में सोयी हुई अनादि अज्ञान जनित अनुकूल प्रतिकूल वासनाओं को जगाकर सुखदुःखों की उत्पत्ति में सहायक होती हैं। अज्ञानी पुरुष के चित्त में विषयों के संसर्ग से हजारों प्रकार के सुख दुःख उत्पन्न होते रहते हैं जबकि विवेकी को विषयानुभव तो होते हैं किन्तु उनसे उन्हें कोई सुख-दुःख नहीं होता। विवेक के जागरूक होने से वासनायें जग नहीं पातीं। फलतः विषयानुभवरूप इन्द्रिय व्यापार विफल हो जाते हैं। यही इन्द्रियों का निग्रह है। यह गुण आंशिक रूप से सभी मनुष्यों में होता है। इसकी कमी से अनेक संकट आते हैं। प्रतिष्ठा गिरती है। मानसिक पतन होता है। जाति परिवर्तन के साथ योनि परिवर्तन भी हो जाता है। मानव पशु योनि में चला जाता है। इस गुण के बढ़ने से मानव के मुखमण्डल में प्रसन्नता और विवेक का प्रकाश होता है। प्रतिष्ठा बढ़ती है। कुछ अधिक बढ़ने से सन्त का दर्जा मिलता है। इसके बढ़ने से ही सनकादि नारदादि देवर्षितुल्य पद प्राप्त होते हैं। यही एक गुण क्षुद्र संसारी जीव को क्रम से मोक्षपदवी तक पहुँचा देता है। इस गुण की पूर्णता के लिये अन्य नौ गुणों का विकास अपेक्षित होता है। विशेष कर इसके लिये जागरूक विवेक अपेक्षित होता है। विवेक का अन्तर्भाव सामान्य ज्ञान में होता है जिसे पूर्वोक्त श्लोक में धी कहा है। जिस व्यक्ति के इन्द्रिय निग्रह का जो स्तर होगा समाज में उसका वही स्तर होगा।

७. सामान्य ज्ञान (धी)—मनुष्य को जानने-समझने के लिये लाखों-करोड़ों उपयोगी और चमत्कारी विषय हैं। प्रथम अनुभव में जो एक प्रसन्नता होती है उसे ही चमत्कार कहते हैं। अथवा विषय में आकर्षक जो विशेषता होती है वह चमत्कार कही जाती है। विषय का नयापन और तत्सम्बन्धी अनुभव का सुखमय नयापन चमत्कार कहा जाता है। सामान्य गुण धर्म नियम क्रिया-कलाप को प्रथम अनुभव में असामान्य समझ लेना ही चमत्कार है। कुछ विषयों में चमत्कार ज्यादा होता है। जैसे भालू का नाच देखना बच्चे बार-बार चाहते हैं।

किन्तु जब तक विषयों में चमत्कार है तब तक पुरुष में तत्सम्बन्धी अज्ञान है। जब तत्सम्बन्धी अज्ञान दूर हो जाता है तब विषय निःसार प्रतीत होने लगता है। विषय नित्य ही निःसार होते हैं। अज्ञान ही उन्हें सारवान् बनाता है। विज्ञान से अज्ञान दूर होता है। तब ज्ञान स्थिर होता है। वही विवेक के रूप में पुरुष की रक्षा करता है। वही यथार्थ ज्ञान कहलाता है। किसी विषय के अपेक्षित सभी पहलुओं का ज्ञान विज्ञान कहलाता है। जिसे अधिक विषयों में यथार्थ ज्ञान होता है वह विवेकी कहलाता है। वही आत्मज्ञान का अधिकारी होता है।

८. विद्या—आत्मज्ञान के उपायों को विद्या कहते हैं। इसकी बहुत सी शाखा प्रशाखायें और भेद हैं। एक ही निर्विशेष तत्त्व को यथार्थ रूप से समझने की बहुत सी विधायें हैं। इसके लिये सद्‌गुरु की कृपा अपेक्षित होती है। उसके बिना किसी को विद्या नहीं मिलती। पुस्तकों में यह अवश्य होती है किन्तु गुरु की कृपा के बिना पुस्तक का भाव पकड़ में नहीं आता। पुरुष को पत्नीलाभ आवश्यक होता है। आत्मकल्याण के लिये या सफल जीवन के लिये सद्‌गुरु की कृपा उससे बहुत अधिक आवश्यक होती है। आत्मज्ञान की पहचान-भगवद्‌गीता के १३वें अध्याय में अमानित्वम् अदम्भित्वम् इत्यादि २० साधन आत्मज्ञान के कहे गये हैं। उन्हें ज्ञान शब्द से अभिहित किया गया है। ज्ञान के साधन को भी ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान के तुल्य होने से भी वे ज्ञान कहे जाते हैं। जिन महापुरुषों में ये लक्षण जितने अधिक रूपों में उपलक्ष्य हों उनमें उतना ही आत्मज्ञान माना जायेगा। आत्मज्ञान की पूर्ति से पूर्व अमानित्वादि गुणों को साधन के रूप में अपनाने के प्रयत्न जारी रहते हैं। आत्मज्ञान हो जाने पर ये गुण फल के रूप में अनायास ही बने रहते हैं।

प्रसंगवश यहाँ आत्मा के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जाता है। अपने आपको सभी प्राणी जानते हैं। सभी प्राणी आत्मा हैं। स्थूल देह धारण करते हैं। इससे देही भी कहलाते हैं। स्थूल देह का निर्माण सूक्ष्म देह से होता है। वैसे ही जैसे बीज से वृक्ष होता है। बीजरूप से सूक्ष्म भूत इन्द्रिय मन और प्राण आत्मा के साथ सदा रहते हैं। चलता फिरता साँप अपने जीवन में अनेक बार केंचुल बदलता है। उसके शरीर पर केंचलु स्वभाव से ही तैयार होता रहता है। शरीर में बदलाव होने के कारण केंचुल

के भी आकार और मजबूती में अन्तर होता है। ऐसे ही कर्मवश जीवात्मा के सूक्ष्म भूत आदि सोलह कलाओं में अन्तर आता रहता है जिससे वह बार-बार अनेक प्रकार के शरीर धारण करता और छोड़ता रहता है। शरीर को अपने से अभिन्न मानना ही शरीर धारण करना है। इसे ही अहंकार कहते हैं। मूल प्रकृति का प्रथम परिणाम महत्तत्त्व है। उसे बुद्धि भी कहते हैं। उसका परिणाम अहंकार है। अहंकार से मन सहित सभी इन्द्रियों का निर्माण होता है। यह निर्माण सृष्टि के आरम्भ में एक बार होता है जो महाप्रलय तक रहता है। शरीर के साथ इसका नाश नहीं होता। अनादिकर्मप्रवाहपतित आत्मा को संसार में विचरण करने के लिये कर्मों के प्रभाव से ही सोलह कलायें प्राप्त होती हैं। पाँच सूक्ष्मभूत-ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च प्राण और मन ये सोलह कलायें हैं। किसी मूल द्रव्य की छोटी विशेषताओं को कला कहते हैं।

इन कलाओं से जीवात्मा विश्व में अपनी पहचान बनाता रहता है। इनके बिना भी यह बहुत कुछ है किन्तु स्थूलदर्शी प्राणि जगत् में कुछ नहीं के बराबर है। कलाओं के अतिरिक्त आत्मा की एक बड़ी विशेषता है इसका कर्म-प्रवाह। जब महाप्रलय हो जाता है जबकि सूक्ष्मभूत भी नहीं रहते इन्द्रिय प्राणमन भी अपने कारणों में लीन हो गये होते हैं। निरूपण-योग्य कुछ भी नहीं रह जाता तब भी आत्मा के कर्म अति सूक्ष्म अवस्था में उससे सम्बन्ध कायम रखते हैं। वे कर्म ही शून्य अवस्था को प्राप्त मूल प्रकृति में महत्तत्व अहंकार आदि रूपों में परिणाम प्राप्त करने के लिये बाध्य करते हैं। चतुर्युग सहस्रात्मक सृष्टिकाल में जीवों के साथ सदा रहने वाली सोलह कलायें मानो जीवों से मिलने के लिये मचलने लगती हैं। सोया बच्चा मानो जग जाता है। जीवों के सामूहिक कर्म अपने फल प्रस्तुत करने के लिये शून्य बनी प्रकृति की तलाश करके उसे अपने प्रभाव से स्थूल रूप धारण कराने लगते हैं तब क्रम से आत्माओं को सोलह कलायें मिलती हैं। आत्मा जब प्राणों से खेलने लगता है तब जीव कहलाता है। जीवात्मा अपने सूक्ष्म प्रयत्नों से क्रम से सूक्ष्मभूतों को स्थूल भूत के रूप में बदलने लगता है। तब देखते-देखते चौरासी लाख योनियाँ प्रकट हो जाती हैं। जीवों के सामूहिक कर्म ही अनन्त आकाश में अनन्त तारापिण्डों का निर्माण करते हैं। वे दूर तक अनन्त पिण्डों को लाभ पहुँचाते हैं। प्रत्येक तारापिण्ड एक

अति दीर्घायु महाप्रभावी आनन्दमग्न जीव या प्राणी है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि विश्व में एक तिल के बराबर भी स्थान जीवों से खाली नहीं है। तब विशालतम सूर्यमण्डल क्या अनन्त जीवों से रहित हैं ? और क्या वहाँ रहने वाले जीवात्मा हमारी भाँति आग से डरते होंगे ? नहीं, वे सबके सब देवता हैं। देवताओं का पुञ्ज ही सूर्यमण्डल है। श्रुति कहती है-चित्रन्देवानामुदगादनीकम् देवताओं का आश्चर्यमय समूह उग आया।

तेजोमय सूक्ष्म शरीरधारी प्राणियों को ही देवता कहते हैं। इन्होंने चिरकाल अनन्त शुभकर्म किये हैं। इसी से तेजोमय रूप से अनन्त आकाश में अतिचिर काल से देदीप्यमान हैं और जब हमारी धरती की आयु पूरी हो जायेगी तब भी वे समानरूप से देदीप्यमान ही रहेंगे। यह है शुभकर्मों का प्रभाव और आत्मा की विशेषता। मानव शरीर में उत्तम अंग शिर की भांति देवसमूह आकाश में प्रकाशमान है और निकृष्ट गुप्त अंगों की भांति पापिष्ठ जीवसमूह कहीं नीचे के लोकों में अनन्त क्लेशों के साथ अज्ञातवास कर रहे हैं। उनके पापकर्मों का अन्त नहीं है। पृथिवी की आयु से अधिक है उनके पापफलों की आयु। फिर भी हमारे आशावादी वेदादि शास्त्र कहते हैं कि नरकवाले कभी स्वर्ग भी पहुँच जाते हैं। वे क्रम से स्वर्ग योग्य बन जाते हैं और स्वर्गीय तेजोमय महापुरुष पुण्य कर्मों का क्षय होने पर नीचे भी आते हैं। प्रमाद बढ़ने पर नरक भी पहुँच जाते हैं। नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे के आवागमन का यह चक्कर कोई सौ दो सौ जन्मों तक ही नहीं रहता बल्कि यह सिलसिला अनादि काल से चल रहा है और अनन्त काल तक चलेगा। अगणित सृष्टि प्रलय हो चुके हैं, आगे भी होंगे। कर्मों की धारा टूटती नहीं इससे विश्व सृष्टि का क्रम भी जारी ही रहता है। जीवों के कर्म ही विश्वसृष्टि के नियामक होते हैं। जब सृष्टि पुरानी पड़ जाती है, जीवों के भोगस्थान और भोगोपकरण शिथिल और क्षीण होने लगते हैं तब नवीनीकरण के लिये ईश्वरीय संकल्पानुसार एवं जीवों के कर्मों के प्रभाव से प्रकृति धीरे-धीरे अपना मुँह छिपाने लगती है और बिल्कुल ही छिप जाती है। उसका कोई सूक्ष्म अंश भी उपलब्ध नहीं होता उस अवस्था को प्रकृष्ट लय होने से प्रलय कहा जाता है। उस समय प्रकृति मानो परम पुरुष की गोद में आराम करती रहती है। जैसे निरक्ष देश में दिन और रात बराबर होती है वैसे ही सृष्टिकाल के तुल्य ही प्रलय काल होता है। मानव

रात का छोटापन पसन्द नहीं करता। वह पूरा आराम चाहता है। इसी भांति प्रकृति भी नवीनीकरण के लिये सृष्टिकाल के तुल्य समय तक आराम करके बल पाकर नित्य ईश्वरीय संकल्पानुसार सैतालिस हजार चार सौ दिव्य वर्षों में अर्थात् 47400X360=17064000 एक करोड़ सत्तर लाख चौंसठ हजार सौर वर्षों में दुबारा आज जैसा नया रूप धारण करती है, देखें सूर्यसिद्धान्त। उस समय सूर्यादि ग्रह नक्षत्र तारे और भूमण्डल नये होते हैं। सृष्टि के आरम्भ में ईश्वरीय संकल्पानुगृहीत प्राचीन कर्म महत्तम फल देते हैं। कर्मों को अपने परिपाक के लिये लम्बा समय मिला होता है। ब्रह्मा जैसे हजारों लाखों स्वयंभू पुरुष उत्पन्न होते हैं। वे अपने को अचानक अपेक्षित परिकरों के साथ विश्व के किसी भाग में उपस्थित पाते हैं। उनकी आयु गणनातीत होती है। संकल्पशक्ति अपार होती है। वे अपने संकल्प से ही एक साथ देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, कीट, पतंग की सृष्टि कर डालते हैं। फिर भी उन्हें यह सब करने का गर्व नहीं होता। क्योंकि उनकी शक्ति के शतांश से ही यह सब हो जाता है। उन्हें जगन्नियन्ता अन्तर्यामी परमात्मा के वास्तव कर्त्तृत्व का ध्यान नहीं भूलता। इसके बाद जो सृष्टि क्रम चलता है वह हम भी देख रहे हैं। अर्वाचीन विकासवाद वे ही मान सकते हैं जो कल सभ्य हुए हैं। भारतीय मनीषा के प्रति ईर्ष्या होने से वे यथार्थ से दूर रहकर तर्क विज्ञान विरुद्ध कल्पना जाल में उलझे रहते हैं।

यहाँ तक के सन्दर्भ से आत्मा के कर्मजन्य प्रभावों का दिग्दर्शन हुआ। कर्म अज्ञान से ही होते हैं। उनके फल भी अज्ञान के रहते ही मिलते हैं। कर्म हो चुकने के बाद फलोपस्थिति के दस मिनट पूर्व यदि अज्ञान अपनी वासना के साथ नष्ट हो जाये तो फल नहीं मिलते। सृष्टि के आरम्भ के ब्रह्मतुल्य कारक पुरुष भी अज्ञानग्रस्त जीव ही हैं। जब अज्ञान अवस्था में इनका ऐसा प्रभाव है तो अज्ञान दूर होने पर कैसा हो सकता है यह विचारना चाहिये। शास्त्र कहते हैं कि अज्ञान की वासना दूर हो जाने पर पुरुष परमात्मा के अत्यन्त तुल्य हो जाता है। निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। प्राण से सम्बन्ध होने से आत्मा जीव कहलाता है और प्रकृति से सम्बन्ध होने से पुरुष कहलाता है। लौकिक स्त्री पुरुष सम्बन्ध के समान ही प्रकृतिपुरुष सम्बन्ध है। लौकिक पुरुष; स्त्री का स्वामी, नियामक, निर्वाहक,

धारक और भोक्ता होता है। इससे यह होना चाहिये कि पुरुष का सम्पूर्ण प्रभाव स्त्री पर हो और स्त्री का कोई भी प्रभाव पुरुष पर न हो किन्तु ऐसा होता ही नहीं। बल्कि कहीं-कहीं ऐसा भी देखा जाता है कि चेष्टायें देखकर पुरुष को स्त्री का गुलाम माना जाता है। पुरुष से अपेक्षित कार्यों के लिये स्त्री से सम्पर्क साधा जाता है। यहाँ तक कि पुरुष के स्थान पर घर पर हर बार स्त्री ही मिलती है। उस समय पुरुष सो रहा होता है या कहीं गया होता है। कार्य का उपक्रम सम्पादन और परिणाम सब कुछ स्त्री पर ही निर्भर होता है। प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध जो अनादिकाल से चला आ रहा है वह भी ऐसा ही है। प्रकृति के बिना पुरुष का निरूपण नहीं हो पाता, उसका पता भी नहीं चल पाता। उसे उसके सहज वास्तव रूप में पाने और समझने के लिये चिरकाल सत्संग शास्त्र-चिन्तन और योगाभ्यास की आवश्यकता होती है जब कि वह सदा अपरोक्ष अपना ही रूप है। प्रकृतिसम्बन्ध के ही फलस्वरूप उसकी निजी व्यावहारिक और सामाजिक समस्यायें रहती हैं। पुरुष स्वर्ग में हो या नरक में प्रकृति सम्बन्ध उसके सामने समस्यायें लाता ही रहता है। उसे कभी भी अपनी ओर निहारने का अवसर नहीं मिलता। यह पुरुष की दुर्दशा है। प्रकृति से उसे जो लाभ उठाना चाहिये, प्रकृति सम्बन्ध का जो वास्तव फल है वह अनादिकाल से पुरुष को नहीं मिला है। कारण यही है कि पुरुष-प्रकृति की ओर झुक गया है। इससे वह अपना पौरुष सदा के लिये भूलकर प्रकृति को ही सब कुछ मान बैठा है। वह अपनी उस स्वयम्प्रकाशता को भी अनदेखा कर रहा है जो तनिक भी तिरोहित नहीं। जड़ माया उसे नचा रही है। जिसे आँख नहीं है उसके मार्ग दर्शन पर ज्योतिषमान् चल रहा है। अनादि काल से अपने आप को भूलकर बीहड़ के उस बाजार में घूम रहा है जहाँ उसके लायक कुछ नहीं है। फिर भी वहाँ कुछ फल उसे पसन्द पड़ते हैं जिनके लिये शुभाशुभमिश्रकर्म रूप शुल्क जमा करता है। फल उसे अधूरा या पूरा मिलता है किन्तु सन्तुष्टि नहीं मिलती। कर्मों का दूरगामी फल भी मिलता है जिस पर उसका ध्यान नहीं रहता। यह फल तब मिलता है जब कर्म बिल्कुल भूल चुके होते हैं। आनुषंगिक प्रासंगिक रूप से कर्म में कुछ ऐसी अच्छाई आ जाती है जिससे दूरगामी फल के रूप में उसे आत्मकल्याण का मार्ग दीखने लगता है। कभी-कभी वह मोक्षपर्यन्त आत्मकल्याण भी प्राप्त कर लेता है। इस विषय पर श्रीमद्भागवत का पुरञ्जनोपाख्यान पठनीय है।

उक्त तथ्य पर ध्यान विश्व के सभी मानवों को अनादि काल से किसी न किसी रूप से कुछ अंशों में अवश्य रहता है। इसे ही विद्या या आत्मविद्या कहते हैं। यह यदि सामान्य स्तर पर आ जाती है। तो मानवीय सभी दुर्गुण दूर हो जाते हैं और कुछ बढ़ने पर समाज में और ऊपर के लोकों में भी प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। जगन्नियन्ता को वह व्यक्ति क्रमशः बहुत अच्छा लगने लगता है। तब वे उसके लिये विश्व में रहने तक के लिये विशेष व्यवस्था करते हैं जिससे सांसारिक दोष दुबारा न लगें। धीरे-धीरे वह पूरा शुद्ध होकर निरञ्जन यानी अज्ञान वासनामुक्त हो जाता है। तब जगन्नियन्ता उसे स्नेह वश अपनी समानता का दर्जा दे देते हैं तब से वह उनके आनन्दमय अनन्त गुणशील सागर में गोता लगाता रहता है। यही मोक्ष है।

९. **सत्य**—यहाँ तक मानवता के मानदण्डरूप आठ मानवीय गुणों का निरूपण हुआ। नौवां गुण सत्य है। इसकी परख ज्ञान, वाणी और आचरण इन तीन स्थानों पर होती है। ज्ञान में सत्य के निवास से बुद्धि विचलित नहीं होती। वाणी में रहने से असत्य भाषण के दोष नहीं लगते। व्यवहार या आचरण में होने से दम्भ पाखण्ड ईर्ष्या असूया विश्वासघात कृतघ्नता आदि दोषों से बचाव होता है। यह गुण पूर्णरूप से धृतिशाली अध्यात्मनिष्ठ पुरुष में ही हो सकता है इससे विद्या के बाद इसे कहा है।

१०. **अक्रोध**—किसी घटना या परिस्थिति के प्रति वह असहन जो व्यावहारिक सामान्यज्ञान को नष्ट कर देता है, क्रोध कहलाता है। इससे मनुष्य भोजन के समय थाली पटक देता है। मुँह देखने के बजाय शीशा पटक देता, कंघा तोड़ देता, तेल की शीशी फेंक देता है। छोटे बच्चे को मार देता या पटक देता है। पत्नी पर जूता चप्पल छड़ी या डंडा चला देता है, खुद अपना सिर हाथों से पीटने लगता, या दीवार पर पटक कर फोड़ लेता, या कुएँ में कूदकर, ट्रेन से बाहर कूद कर या रेल की पटरी पर सोकर मर जाता है। ये सब क्रोध के कार्य हैं। विषयों में अधिक लगाव होने से क्रोध तेज होता है। ऐसे लोगों की गणना क्षुद्र व्यक्तियों में होती है। कुछ महपुरुष होते हैं वे क्रोध को रोक लेते हैं। मस्तिष्क से वाणी पर उतरने नहीं देते। फिर भी चेहरे पर क्रोध की कुछ छाया आ जाती है। यह उनकी क्रोध पर विजय है किन्तु अक्रोध नहीं है। जिस विषम परिस्थिति में सामान्य

या महान् पुरुष आंशिक या पूर्णरूप से क्रोधित हो जाते हैं उसमें क्रोध का लेश भी न होना अक्रोध कहलाता है। यह दसवां कोई स्वतन्त्र गुण नहीं है बल्कि पूर्वोक्त नौ गुणों की पूर्ति का प्रमाण है। यदि इसे भी एक स्वतन्त्र गुण मानना आवश्यक हो तो दया और अहिंसा जो क्षमा गुण के पूरक हैं उनकी सुरक्षा और विकास के प्रयत्न को अक्रोध कहेंगे। क्रोध न करना अक्रोध नहीं है क्योंकि क्रोध किया नहीं जाता बल्कि परिस्थिति वश वह गुणहीन दुर्बल हृदय में अनचाहे हो जाता है।

उपर्युक्त मानवीय मौलिक दस गुणों को श्रीमद्भागवत महापुराण में शब्दों के परिवर्तन के साथ तीस की संख्या में दर्शाया गया है। वहाँ उपक्रम का श्लोक विशेषरूप से प्रेरक है। निम्नश्लोक परिशीलन योग्य है।–

धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः।
स्मृतञ्च तद्विदां राजन्येन चात्मा प्रसीदति।।
सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यञ्च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्।।
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्।।
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव।।
श्रवणं कीर्तनञ्चास्य स्मरणम्महतां गतेः।
सेवेज्याऽवनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्।।
नृणामयम्परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति।।

श्रीमद्भा० ७।७।७–१२।।

अध्याय के आरम्भ में राजा युधिष्ठिर ने देवर्षि नारद से कहा है कि मैं आपसे मनुष्यों के सनातन धर्मों को सुनना चाहता हूँ। आप भगवान् के भक्त हैं। धर्म तो दूसरे लोग भी जानते हैं किन्तु भागवतों की तरह वे नहीं समझ पाते। अतः आप ही कृपाकर के बतलायें। धर्मराज युधिष्ठिर समझते हैं कि जो भक्त नहीं है वह धर्म नहीं जानता। उत्तर में नारदजी ने नवधा भक्ति को धर्म की पराकाष्ठा बतलाया। प्रश्न में युधिष्ठिर ने धर्म के प्रत्येक लक्षण को स्वतन्त्र धर्म मानकर बहुवचन का प्रयोग किया किन्तु उत्तर में

नारदजी ने बतलाया कि धर्म एक ही है, उसके तीस लक्षण हैं। यह भी कहा कि इससे सर्वात्मा की सन्तुष्टि होती है। भगवान् के तीन अक्षरों के बहुत से नाम हैं किन्तु अन्य नामों को छोड़कर अप्रसिद्ध नाम सर्वात्मा कहा है। इससे यह संकेत मिलता है कि प्राणिमात्र को सन्तुष्टि जिससे हो वही मुख्य धर्म है। प्राणियों की उपेक्षा करके जप होम दान पूजा पाठ आदि में प्रयत्न अधूरा धर्म है। उसका फल भी अधूरा ही होगा। सर्वात्मा शब्द यह भी सूचित करता है कि प्राणियों का तो सम्मान का ध्यान रखना ही है पर जड़ द्रव्यों, नदी, पर्वत, पत्थर, काठ, वस्त्र, पात्र आदि के प्रति भी नित्य आदर भाव रहना चाहिये। इतना ही नहीं द्रव्यों के धर्म गुण क्रिया जाति विशेषता आदि पर भी उपेक्षा बुद्धि या अनादर भाव नहीं होना चाहिये। सर्व शब्द से बुद्धिगोचर सभी विषयों का संग्रह हो जाता है। सर्वात्मा शब्द चेतनाचेतनसमस्तवस्तुशरीरक के रूप से परमात्मा का बोध कराता है। यह शब्द यह भी सूचित करता है कि परमात्मा के केवल निर्विशेष निराकार रूप के या परिगणित कतिपय रूपों के ध्यान स्मृति पूजा प्रणामादि पूरा धर्म नहीं है बल्कि सारे के सारे रूप जो हमारी आँखों ध्यान स्मृति कल्पना आदि से जुटते हैं उनके प्रति भगवद्बुद्धि श्रद्धा रति प्रणामादि नित्य निष्ठा से होते रहें यह आवश्यक है, धर्म की पूर्ति के लिये।

अस्तु पूर्वोक्त मानवीय मौलिक दस गुणों से बाहर विश्व में कोई धर्म नहीं है। नाम रूपों में कुछ हेर-फेर से नयापन प्रतीत होता है। किन्तु धर्म का जो भी कोई नया रूप किसी भी ग्रन्थ, देश, काल, समाज मत, सम्प्रदाय में प्रतीत होता है उसका अन्तर्भाव उक्त दश में ही है जो कि मानवमात्र के लिये है। वर्ण-आश्रमभेद से, स्त्री पुरुष भेद से, गुरु शिष्य भेद से, स्वामि-सेवक भेद से, युग भेद से, तन्त्रभेद से, देवता के रूप भेद से, शक्ति भेद से, संकल्प भेद से, श्रद्धा भेद से, सामग्री भेद से, देश-राष्ट्र-समाज भेद से, भाषा भेद से, आचार्य वचन भेद से, सम्प्रदाय प्रवर्तक कतिपय नियमों के भेदों से, क्रियाभेद से जो भेद समझे जाते हैं वे धर्म के मौलिक रूप में अन्तर नहीं लाते बल्कि स्वयं वे अनुष्ठान, श्रद्धा, सामग्री और फलों के भेदों से भिन्न हो जाते हैं। जैसे फल, दूध, रोटी, दाल, चावल, साबूदाना, चाय-बिस्कुट, चना-चबेना ये सब आहार रूप से तुल्य हैं किन्तु बल, पुष्टि, आरोग्य और परिणामजन्य प्रतिभा मेघा स्मृति उत्साह आदि में

अन्तर होता है। फिर भी अधिकार पात्रता क्षमता आदि के अनुरूप ही आहार का चयन होता है। ऐसे ही भील का, शबर का, यवन का म्लेच्छ एवं यान चालक का और कृषक का धर्म अलग-अलग हो जाता है। ऊपर बतलाया गया है कि व्यक्तिगत मौलिक गुण ही धर्म कहे जाते हैं। गुणों में भेद होने से धर्म स्वयं भिन्न हो जाता है। कोई व्यक्ति या आचार्य भेद करने नहीं जाता। अवश्य ही कभी-कभी कुछ महापुरुष परिस्थिति देखकर कुछ विधि निषेध बना देते हैं। यदि वे विधि निषेध धर्म के मौलिक रूप से मेल नहीं खाते तो विवेक दृष्टि से मान्य नहीं होते। इसी से वेदों में प्रतिपादित होने पर भी हिंसाप्रधान या हिंसायुक्त धर्मों का वैदिककाल से ही विरोध चला आ रहा है। फिर भी मानव धर्म प्राप्त करने के लिये विविध हिंसा करता चला आ रहा है। अपने पक्ष में वेदादि शास्त्रों की दुहाई भी देता आ रहा है।

वास्तव में हिंसा, स्तेय, अब्रह्मचर्य जैसे क्रियाकलापों का विधान वेदादि शास्त्रों में जो उपलब्ध होता है वह हिंसादिभावनाग्रस्तमानव के लिये अनुज्ञामात्र है। वह अनुज्ञा भी हिंसादि भावना से ऊपर उठाने के उपाय के रूप से होती है। जैसे बच्चे खेलना चाहते हैं। उन्हें खेल से रोका नहीं जा सकता। अन्यथा उनका विकास रुक जाता है। इससे उन्हें खेलों में लगाया जाता है। खेलने के बाद वे रचनात्मक कार्य करने लगते हैं। वही उनका विकास होता है। शुभ संकल्प के योग से हिंसा की प्रवृत्ति स्वयं शान्त हो जाती है। इसी के लिये हिंसा जैसे अधर्मों को धर्म मान लिया जाता है। जो लोग अपने मजहब फैलाने के लिए शुरु से ही हिंसा कर रहे हैं, उन्हें इस तथ्य पर ध्यान देना चाहिये।

उपर्युक्त दस गुणों में अद्भुत सामञ्जस्य है। उत्तर-उत्तर गुण पूर्व-पूर्व गुण के पूरक है। धृति की पूर्ति क्षमा से, क्षमा की दम से, दम की अस्तेय से, अस्तेय की शौच से, शौच की इन्द्रियनिग्रह से इन्द्रियनिग्रह की यथार्थ ज्ञान यानी सामान्य ज्ञान से, ज्ञान की पूर्ति, मोक्ष विद्या से, मोक्ष विद्या की सत्य निष्ठा से और उक्त निष्ठा की पूर्ति अक्रोध से होती है।

आत्मरक्षाप्रवणता को धृति कहते हैं। यह गुण प्राणिमात्र में जन्म से ही देखा जाता है। आत्मा स्वभाव से अनादि अनन्त अविनाशी और एकाकार है किन्तु संसार अवस्था में कर्मवासना सहित सोलह कलाओं से

युक्त होता है। सतत परिवर्तनशील संसार में धृति यानी अवस्थान या टिकाव किसी का कुछ भी नहीं होता किन्तु आत्मा अपनी स्वरूपगत नित्यता को अपने विशिष्ट रूप में भी मोहवश देखना चाहता है। मोहमय इस इच्छा को व्यावहारिक जगत् की सम्पूर्ण मान्यता प्राप्त है। इसके पीछे दो कारण हैं। व्यवहर्ता आत्मा की स्वरूपनित्यता और मोह की दुर्वारता। इस मोह के बिना कोई भी व्यवहार नहीं हो सकता। किसी भी द्रव्य का सहस्रांश नाश या वृद्धि उसका वास्तविक नाश ही होता है किन्तु व्यावहारिक जगत् में इस मान्यता को स्थान नहीं है। इसी से एक सौ पाँच किलोग्राम वजन वाले व्यक्ति में पचास साल पहले के पाँच किलोग्राम वजन वाले बच्चे का तादात्म्य स्वीकार कर लेते हैं।

स्वरूप से नित्य निर्विकार एकाकार जीवात्मा संसार में अपने परिणामी विशेषणों के द्वारा कुछ अच्छा करना चाहता है। कुछ अच्छा करने के लिये अपना कुछ अच्छा रूप स्वीकार करता है। यह स्वीकार कुछ यथार्थ और कुछ भ्रान्तिकल्पित और कुछ आरोपित भी होता है। इस स्वीकार रूप ज्ञान में दृढ़ता ही धृति है। धृति के विरुद्ध दैहिक दैविक भौतिक अनेक कष्टमय घटनायें होती रहती हैं। धृति के लिये कष्टों को झेलते रहना क्षमा है। इस क्षमा को हम द्वन्द्वसहिष्णुता भी कहते हैं। यह गुण बलवान् मन में ही हो सकता है। मन का बल ही दम है। विषयलिप्सा में कमी होने से मन का बल बढ़ता है। नाजायज धन की इच्छा होने से मन का बल घटता है। और नाजायज धन मिल जाने से मनोबल नष्ट हो जाता है। नाजायज धन से बचाव अस्तेय है। यह गुण भीतर बाहर शुद्ध रहने वाले में ही हो सकता है। इससे अस्तेय का पूरक शुचिता है। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही शुचिता का धनी हो सकता है। जिनकी रसना ट्रेनों और होटलों में चाय पिला देती है और रूप के बाजार में जिनके एक दिल के टुकड़े हजार हो चुके हैं उनमें शुचिता कहाँ से आयेगी। शुचिता का पूरक है इन्द्रियजय। बाह्य जगत् सम्बन्धी यथार्थ ज्ञान के बिना इन्द्रिय जय नहीं हो पाता। उक्त यथार्थ ज्ञान की पूर्ति आन्तर ज्ञान अर्थात् अध्यात्मविद्या से होती है। यह विद्या सत्यनिष्ठ व्यक्ति को ही मिलती है। सत्य को अध्यात्मविद्या द्वारा पाया जाता है। इस मार्ग में बहुत सी रूढ़ियों को छोड़ना पड़ता है। उस अवसर पर क्रोध आकर प्रगति को रोक देता है। ज्ञान की दुर्बलता से क्रोध होता है।

पिछले आठ गुण यदि दृढ़ होते हैं तो क्रोध नहीं होता और नौवें गुण के रूप में सत्यनारायण भगवान् मिल जाते हैं। अक्रोध उनका द्वारपाल होता है।

इस प्रकार हमने मानवता को दूर से अति सुलभ रूप से देख लिया। इसे पाने और बढ़ाने के लिये बहुत कुछ करना पड़ता है। जो लोग कुछ करते हैं वे ही महान् मानव या श्रेष्ठ मानव कहे जाते हैं। जो लोग कुछ करना नहीं चाहते उनके चित्त की चादर में मैल की परतें जमती रहती हैं। आगे चलकर वे अधोगति प्राप्त करते हैं। वहाँ भी उन्हें निम्नस्तर की धृति क्षमा आदि की आवश्यकता होती है।

अब हम श्रीमद्भागवत के पूर्वोक्त तीस धर्मलक्षणों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे और देखेंगे कि इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त दश लक्षणों में कैसे हो सकता है। **१-सत्य**—इसका विवेचन पहले हो चुका है। **२-दया**—दूसरे का दुःख देख या जानकर दुःखी हो जाना दया कहलाता है। यह धर्म की अच्छी पहचान है। इससे समाज की सेवा में प्रवृत्ति होती है, अपराध नहीं होते। **३-तप**—पापनाश के लिये और चित्तशुद्धि के लिये बहुत प्रकार के तप अपनाये जाते हैं। शरीर वाणी और मन को कुछ नियमों में बाँधे रहना तप कहलाता है। इसका मुख्यफल है चित्त-शुद्धि। चित्त-शुद्धि का फल है तत्त्वज्ञान। तप में प्रवृत्ति विरले लोगों में देखी जाती है। उसमें भी सफलता और निर्वाह कम ही देखा जाता है। पहले के धर्म से ही इसमें प्रवृत्ति निर्वाह और सिद्धि होती है। अतः यह धर्म की एक अच्छी पहचान है। **४-शौच**—इसका विवरण पहले हो गया है। **५-तितिक्षा**—यह क्षमा से मिलता जुलता गुण है। दुःख सहन दोनों में तुल्य है। साधना विरोधी सभी प्रकार के दुःखों का सहन तितिक्षा है। जब दुःखदायक कोई या कुछ व्यक्ति होते हैं तो तितिक्षा को ही क्षमा कहा जाता है। **६-ईक्षा**—इसका वाच्यार्थ है दर्शन। जिन ज्ञानों के लुप्त होने से प्रमाद बढ़ता है और मन इन्द्रियों से आत्मघाती अपराध होते हैं उन ज्ञानों को प्रत्यक्ष के समान बनाये रखना ईक्षा कहलाता है। परधन और परनारी में केवल पाप का ही निवास रहता है यह ज्ञान जिसका नहीं भूलेगा वह पाप पंक में नहीं गिरेगा। प्रमाद के बहुत से मार्ग होते हैं। प्रत्येक मार्ग पर सतत सावधानी प्राचीन पुण्य से ही रहती है। अतः ईक्षा धर्म की अच्छी पहचान है। **७, ८-शम दम**—दोनों का विवरण हो

चुका है। **६-अहिंसा**—मांसभक्षण लूट और दूसरे को अपने अधीन करने के लिये हिंसा अपनायी जाती है। ऐसी हिंसा दयागुण से रुक जाती है। किन्तु व्यक्तिगत, पारिवारिक सामाजिक या राष्ट्रिय हित या स्वार्थ की हानि को रोकने के लिये जो हिंसा अपनानी पड़ती है उसे और दैनिक जीवन में ज्ञात अज्ञात छोटी बड़ी हिंसायें जो अनायास हो जाती हैं उन्हें दयागुण नहीं रोक पाता। ऐसी हिंसाओं को रोकने की मनःस्थिति प्राचीन पुण्य की पहचान होती है। देखा जाता है कि शत्रु लगातार हानि पहुँचा रहा है, उसे मारना आसान भी है किन्तु उसे न मारकर दूसरे उपायों से उसे शान्त करने के प्रयत्न होते हैं। यह भी देखा जाता है कि मच्छर के काटने पर चप्पड़ न चलाकर धीरे से कपड़े से उसे हटाया जाता है, खटमल को न मारकर धीरे से उसे दूर कर दिया जाता है। पानी छानकर ही पिया जाता है, अन्धेरे में जीवों के दबने के भय से चलने की प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसी मनः स्थितियों को अहिंसा कहते हैं। **१०-ब्रह्मचर्य**—मैथुनत्याग, शब्दादिविषयविराग, चित्त की अन्तर्मुखता और स्वरूपचिन्तन या भगवद्ज्ञान इन चार मानस व्यापारों का एक नाम है ब्रह्मचर्य। इनमें प्रथम को ग्राम्येहोपरमः शनैः कहकर सूचित किया है। दूसरा भी शम-दम शब्दों से आ गया है। तीसरा आत्मविमर्शन शब्द से कहा गया और चौथा भी आगे की नवधाभक्ति में आ गया है। फिर भी अलग से ब्रह्मचर्य गुण कहा गया है। इसका तात्पर्य १८ से २५ वर्ष तक सांसारिक विषयों से विमुख रहकर शास्त्राभ्यास करने में है। यह कार्य पुण्यशील लोग ही करते हैं। अतः यह भी धर्म की अच्छी पहचान है। **११-त्याग**—इसका अर्थ है छोड़ना। बैराग्य में स्पृहा का अभाव होता है और त्याग में फलाधिकार का स्वेच्छा से त्याग होता है। गीता में भगवान् ने कर्म छोड़ने में संसार का भय बतलाया है और निष्कामभाव से नित्यनैमित्तिक कर्म करने का सुझाव दिया है। जिसे जो मिलना स्वाभाविक है वह उसका त्याग कर सकता है। भिक्षुक राज्य का और पापी स्वर्ग का त्याग नहीं कर सकता। पापी स्वर्ग नहीं चाहता इससे उसे त्यागी नहीं कहा जाता। भगवान् ने गीता में त्याग शब्द का अर्थ किया है-सर्वकर्मफलत्यागम्प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः। चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड की सारी उपलब्धियाँ कर्म से ही होती हैं। तमोगुणी प्रमादी व्यक्ति कुछ नहीं चाहता फिर भी वह त्यागी नहीं है। त्यागी वह होता है जिसे विश्व की

किसी भी वस्तु की स्पृहा नहीं होती फिर भी वह फलेच्छा वालों के समान ही अपने अधिकार के कर्म करता रहता है। उसे कर्मों में प्रवृत्ति होती है आत्मरक्षा के लिये ना कि फल लाभ के लिये। फलों से वह बचता रहता है तत्त्वज्ञान के बल पर। फल लाभ ही संसार बन्धन है। मुमुक्षु ही त्यागी होता है। इस सम्बन्ध में विशद जानकारी गीता के अन्तिम अध्याय के आरम्भ के सत्रह श्लोकों से हो सकती है। **१२-स्वाध्याय**—इसमें दो पद हैं स्व और अध्याय। यहाँ स्व का अर्थ है आत्मीय अर्थात् अपने हित का साधन, विकास का हेतु कल्याण का बोधक, स्वरूप का रक्षक या अपने सम्बन्ध में अपेक्षित सम्पूर्ण जानकारी देने वाला और अध्याय का अर्थ है ज्ञानार्जन या ज्ञानदायक ग्रन्थ का अभ्यास परिशीलन मनन और चिन्तन। इस तरह स्वाध्याय का वास्तविक रूप यह ठहरा कि वह अध्ययन जिससे प्रमादवर्धक बहिर्मुखता दूर हो और अपने वास्तविक रूप का ध्यान बढ़े जिससे अभ्युदय या निःश्रेयस या उभय की प्राप्ति सुनिश्चित हो। ऐसी प्रवृत्ति मनुष्य को प्रभुता से उबार कर देवत्व की ओर ले जाती है। अच्छे संस्कार वालों में ही यह प्रवृत्ति पायी जाती है। इससे यह भी धर्म की अच्छी पहचान है। **१३-आर्जव**—जो बात मन में हो उसके विरुद्ध बोला न जाये और जो बोला जाये उसके विरुद्ध कोई आचरण न हो यही आर्जव है। इसे हिन्दी में सरलता या सीधापन कहते हैं। भगवान् राम में यह गुण था जबकि चिरकाल तक अपार विश्ववैभव का स्वामी रहने पर भी रावण में नहीं था। प्रज्ञाहीनों में यह गुण, दोष हो जाता है इससे उनकी हानि होती है और प्रज्ञावानों में यह गुण अलंकार बन जाता है। इस गुण के होने से दम्भ, कपट, छल, विश्वासघात, ईर्ष्या, द्वेष आदि दोष नहीं टिक पाते। मनुष्य विश्वसनीय और अभिगमनीय होता है। यह धर्म का लक्षण है। **१४-सन्तोष**—इसमें भी दो पद हैं सम् और तोष। सम् माने सन्तत और तोष माने आन्तरिक सुख, वह सुख जो सहज में प्रकट न हो। जब जो जितना मिल जाये तब उस उतने से प्रसन्न रहना सन्तोष कहलाता है। यह स्वतन्त्र गुण नहीं है। यह किसी लक्ष्य की प्राप्ति तक बना रहता है। लक्ष्य जीवन व्यापी भी हो सकता है और यह व्यक्तित्व का परिचायक भी बन सकता है। यदि लक्ष्य अभ्युदय या निःश्रेयस हो तो यह गुण माना जाता है किन्तु यदि लक्ष्य केवल अफीम का नशा जैसा कुछ हो तो यह भारी दोष

माना जाता है। चूंकि यह धर्म के लक्षण के रूप में कहा जा रहा है, इससे धर्म के किसी अच्छे लक्षण के निर्वाहक के रूप में मान्य है। **१५-समदृक्-सेवा**—यह सत्संग का पर्याय है। सबको भगवान् के रूप में देखना सन्तों की पहचान है। यही उनकी समदृष्टि है। यहाँ सन्तों को उनकी असली पहचान वाले शब्द से कहा गया है। पिछले चौदह गुणों से सत्संग में प्रवृत्ति होती है और आगे के १५ गुण सत्संग से प्राप्त होते हैं। सत्संग का प्रथम फल बतला रहे हैं। **१६-ग्राम्येहोपरमः शनै**—ग्राम्य-ईहा-उपरमः गवाँरू चेष्टा से विमुखता, वह भी धीरे धीरे। इस कुचेष्टा को पशुप्रवृत्ति भी कहते हैं। बन्दरों को देखिये दिन हो या शाम, भीड़ हो या एकान्त झगड़ा चल रहा हो या शान्ति हो, क्षण भर के लिये ही काम किंकर बन जाते हैं। आदत बुरी बला है। जब आदत नहीं पड़ी थी तब अप्सरा का कोई माने नहीं था और जब आदत पड़कर बिगड़ गयी तो पूरे मस्तिष्क में धर्मनिरपेक्षता छा गयी। मानव समदर्शी हो गया। किन्तु यह समदर्शन विनाश की पराकाष्ठा है। ऐसे लोगों को उपर्युक्त समदर्शी सन्त नहीं मिलते। अजामिल पहले विद्वान् जितेन्द्रिय गुरुभक्त ब्राह्मण था। किसी बुरे प्रारब्ध के उदय से बाद में अजा माया से मिल गया था। उसके अच्छे संस्कार नष्ट से हो गये थे किन्तु बीज रूप से वर्तमान थे इससे पुत्र का नारायण नाम उसका रक्षक हो गया। जिसकी कामचेष्टा जारी हो किन्तु नियन्त्रण में हो वह सत्संग से धीरे-धीरे इससे हटता है। इससे बचाव के लिये सन्तों का समदर्शन अमोध साधन होता है। इसी से उनका उल्लेख समदृक् शब्द से किया है। बच्चे मां का गोद और दूध खेल और आहार के माध्यम से धीरे-धीरे छोड़ते हैं। अचानक छोड़ने की स्थिति में उनका चित्त दुर्बल हो जाता है। इससे जीवन का विकास रुक जाता है। ऐसे ही संसारी मानव कामचेष्टाओं से धीरे-धीरे ही छूट कर कल्याण मार्ग में अग्रसर होते हैं। इसी से शनैः पद का प्रयोग हुआ है। **१७-मानव की विपरीत चेष्टाओं पर दृष्टि**—मानव सुख चाहता है और दुखों से बचाव चाहता है। इसके लिये वह नाना वैध-अवैध उपाय अपनाता रहता है किन्तु परिणाम उसके सोच के विपरीत ही मिलता है। उसकी भूल से, समाज की मनःस्थिति से या दैवी घटनाओं से वह दुःखों के फन्दे में ही अपने को पाता है। थोड़ा सा सुख वह अवश्य पाता है। जो उसके भावी दुःखों की भूमिका

बनता है। यह नियम शिक्षित अशिक्षित धर्मी पापी धनी गरीब सबके लिये समान है। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति सुख साधनों से सदा वंचित रहता हुआ भी सुखी रहता है। अभाव उसे खलते नहीं हैं। सुख-साधनों के रहते भी कुछ कल्पनाओं से नित्य दुःख पालने वाले तो चारों ओर मिलते हैं। इस प्रकार मानव या तो प्रयत्न करके भी सुख नहीं पाता, बिना प्रयत्न के ही सुखी रहता या सुख के बदले दुःखों में ही लीन रहता है। यह है मानवमात्र की सुख विरुद्ध चेष्टा।

चौरासी लाख योनियों में केवल मानव योनि ही ऐसी है जो अनादि संसार हेतु कर्मबन्धनों को काटने समाप्त करने या शिथिल करने में सक्षम है। अधिकांश मानव इधर ध्यान देने की स्थिति में नहीं होते किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं जो मौखिक रूप से कर्मों के रहस्य जानते हैं। दूसरों से बोलते भी हैं किन्तु स्वयं कर्मों को और दृढ़ करते रहते हैं। घूस लेना और देना दोनों पाप हैं ऐसा वे अधिक बोलते हैं जो घूस लेने के लिये जाल रचते रहते हैं। दुर्व्यसनी व्यक्ति व्यसन के दोषों का बखान तो करता है किन्तु स्वयं व्यसन प्रवृत्ति को बढ़ाता रहता है। यह है मानवमात्र की हित विरुद्ध चेष्टा। जो पुण्यात्मा होते हैं वे मानव की इस दुर्बलता पर सतत ध्यान रखते हैं। इससे वे असंयमियों को उपदेश नहीं देते, उन पर विश्वास नहीं करते, उनकी संगति नहीं करते। उनका अनुकरण नहीं करते। अपने धोखेबाज मन पर भी अधिक विश्वास नहीं करते। केवल संयमपूर्ण निष्काम कर्मयोग पर भरोसा रखते हैं। यह सावधानी उन्हें कर्तव्य के प्रति प्रमाद से बचाती है।

१८-मौन—जहाँ का सारा समाज अज्ञानी दुर्व्यसनी और कृतघ्न हो वहाँ विवेकी अपनी वाणी को बन्द ही रखता है। अपने को पागल या बहरा जैसा प्रदर्शित करता हुआ आगे बढ़ता है। वह अपनी प्रगति की चिन्ता अधिक करता है। बिना दण्ड के न सुधरने वाले समाज को सुधारने की बात नहीं सोचता। वह चित्त में उस मन्त्र की आवृत्ति करता रहता है जिससे संसार छूटता है। यही मौन है। यह लक्षण बहुत दुर्लभ होता है। **१९-आत्मविमर्शन**—मानव चित्त के तीन आलम्बन होते हैं। बाह्य जगत्, आत्मकल्याण का उपाय और कल्याण में बिलम्ब के कारण। इनमें दूसरा आलम्बन मुनियों का होता है और तीसरा आलम्बन उनका होता है जो

कल्याण के विदित उपाय को अपने प्रति क्रियान्वित करना चाहते हैं और व्यवधानों को दूर करने की चिन्ता रखते हैं। यह चिन्ता ही आत्मविमर्शन है। कहना नहीं होगा कि यह लक्षण अनेक जन्मार्जित धर्म का फल होता है।

२०-उचित वितरण—यह व्यावहारिक जगत् का सामान्य गुण है। भले लोग व्यर्थ उलझनों से बचने के लिये इसे अपनाते हैं। वे मानवेतर, प्राणियों को भी उनका अपेक्षित भाग देते रहते हैं। कच्चा-पका भोजन, वस्त्र, आवास, औषध, पूंजी आदि जो कुछ अपने पास दूसरों को दिखाई पड़ता हो और उसके प्रति स्पृहा रखते हों उन्हें वह सब देते रहना, देने में अपनी हानि न सोचना, यह कल्याण मार्ग का अच्छा पाथेय होता है। इससे सबकी सद्भावना साधक के साथ होती है। **२१-प्राणिमात्र को और विशेष कर मानवों को अपना इष्टदेव परमात्मा मानना**—भगवद्भक्ति का यह प्रथम सोपान है। इससे वेदान्त विद्या व्यावहारिक हो जाती है। इसके अभाव में ही रागादि दोष ठहरते हैं। जो लोग ईश्वरीय सत्ता नहीं मानते वे अपना जो कुछ सर्वोत्तम समझते हैं उसे ही मानवमात्र में देख सकते हैं। अपनी सर्वोपरि निष्ठा के विषय को सर्वत्र देखने से प्रमाद को अवकाश नहीं मिलता। इस प्रकार धर्म के इक्कीस लक्षण हुए। आगे श्रवण आदि नवधा भक्ति बतलायी गयी है। यह विषय बहुतों को विदित है फिर भी संक्षेप में सर्वसाधारण के लिये बतलाया जा रहा है। **२२-श्रवण**—सुनने के लिये तो बहुत कुछ है किन्तु इस अनन्त आश्चर्यमय विश्व का जो मूल कारण है, जो अपने आप में स्वयं एक महान् आश्चर्य है, जिसे वेद सर्वगन्ध और सर्वरस कहता है, जो प्राणिमात्र का सहचर सुहृद् माना जाता है उस परम तत्त्व को सुनना ही वास्तव सुनना है। उसे सुनने समझने की योग्यता ही वास्तव योग्यता है। उस तत्त्व को वेदादि शास्त्र किस रूप में समझाना चाहते हैं यह जानना ही वास्तव श्रवण है। **२३-कीर्तन**—किसी आश्चर्यमय कल्याणमय सर्वसुलभ विषय की जानकारी हो जाने के बाद कोई भी व्यक्ति स्वभाव से ही उसका बखान करता रहता है। वह तब तक बोलता है जब तक उसके हृदय में आश्चर्य का भाव बना रहता है। परमात्मतत्त्व का ज्ञान कभी पूरा नहीं होता और आश्चर्य भी उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है। अवश्य ही यह सब रागादिदोषरहित हृदय में ही होता है। जानकारी और

आश्चर्य का सिलसिला जारी रहने पर कथन भी स्वभाव से ही जारी रहता है। यही कीर्तन है न कि कुछ बाजा बजाते हुए कुछ गीत गाते रहना और गाने के बाद भूल जाना। **२४. स्मरण**—सुने हुए कल्याणमय विस्मयकारी अति आत्मीय नित्य सन्निहित परम चेतन तत्त्व को कभी न भूल पाना ही स्मरण है कभी थोड़ा याद कर लेना स्मरण नहीं है। **२५-सेवा**—इसे चरण सेवा भी कहा जाता है। निराकार के चरण कहाँ और साकार भी सुलभ कहाँ। गुरु चरण भगवच्चरण से कम नहीं होता। इसी से गोस्वामी तुलसीदास जी ने नवधाभक्ति में "गुरुपद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान" कहा है। यदि केवल सेवा अभीष्ट हो तो सान्निध्यातिशय के लिये भक्त के द्वारा होने वाला कार्य सेवा कहा जाता है। सर्वव्यापक से वियोग असम्भव है फिर भी विषय- व्यस्तचित्त के लिये भगवान् बहुत दूर समझने में आते हैं। चित्त को उनके अभिमुख करना ही सेवा है। अभिमुखता यहाँ अनुभव की उत्कटता है। सेवन और सेवा समानार्थक हैं। औषधसेवन से व्यक्ति औषधमय हो जाता है। औषधीय सारे गुण उसमें प्रकट हो जाते हैं। ऐसे ही भगवान् के ध्यान से मनुष्य में भगवदीय गुण खिलने लगते हैं। स्त्री सेवन पति सेवा प्रसिद्ध है। वहाँ प्रीति की उत्कटता ही सेवा होती है। शरीर व्यापार प्रीति का फल होता है। प्रीति के बिना शरीर सम्बन्ध निन्दित होता है, यही नियम प्रभु की सेवा में भी है। **२६-इज्या**—केवल प्रीति या ध्यान भक्त को सन्तुष्टि नहीं देता। वह भगवान् के लिये कुछ-कुछ करना चाहता है। भगवान् के लिये जल पुष्प धूप दीप नैवेद्य दक्षिणा आदि अति श्रद्धा से निवेदित करता और प्रार्थना पूर्वक प्रणाम करता है। इज्या का अर्थ पूजन होता है। निराकार का भी पूजन होता है। आकार न होने पर भी हृदय तो होता ही है परमात्मा का। **२७-प्रणाम**—यह पूजन का अन्तिम अंग है। स्वतन्त्र भक्ति भी है। प्रकृष्ट नमन प्रणाम कहलाता है। नमन का माने है सामने वाले के प्रति अपनी हीनता और अधीनता सूचित करने के संकेत। उसमें प्रकर्ष आता है सर्वविधता से। नमन में समस्त शरीर के अतिरिक्त बाणी मन और बुद्धि का भी विनियोग होने से प्रकर्ष पूरा होता है। मानव को होश सम्हालते ही वातावरण में एक अव्यवस्था और कमी का अनुभव होता है। लोगों के विचार भी अपने अनुकूल नहीं लगते। ऐसा अनुभव आजीवन रहता है। यह अपनी क्षमता के अनुरूप सुधार के प्रयत्न करता

है। प्रयत्न का जो भी शुभाशुभ फल इसे मिलता है वह वास्तव में प्रारब्ध कर्मों का फल होता है। जीव इस रहस्य से सर्वथा अनभिज्ञ रहता है। वेदादि शास्त्रों के ज्ञान से भी यह भ्रान्ति नहीं मिटती। अपने ऊपर अपने अदृष्ट के सम्पूर्ण नियन्त्रण पर इसे आस्था नहीं होती जबकि अदृष्ट परमात्मा का कृपापूर्ण हाथ होता है। जीव को परमात्मा की सन्निधि इससे अधिक और क्या हो सकती है। कतिपय भाग्यशाली लोगों को इस तथ्य का कुछ बोध होने लगता है तब वे अधिक और स्पष्ट जानकारी के लिये वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। उनमें जिन पर भगवान् विशेष अनुग्रह करते हैं उन्हें सदाचार्य के रूप में मिलकर शास्त्र रहस्यों का अनुभव कराते और निःश्रेयस के मार्ग में बहुत आगे बढ़ा देते हैं जहाँ से गिरने का भय नहीं रहता।

चेतन जब अपनी अलौकिक और असामान्य प्रगति पर ध्यान देता है तब अपने को इसके लिये सर्वथा अयोग्य और अक्षम पाता है और केवल भगवान् की निर्हेतुक कृपा को ही इस प्रगति का मुख्य कारण समझता है तब वह स्वयं विना शर्त सदा के लिये अपने आपको अपनी ओर से प्रभु को समर्पित कर देता है जबकि वह इस तथ्य से भी अवगत रहता है कि हम सदा से ही पूर्णरूप से प्रभु के अधीन हैं। अधीनता को न समझने से कर्मबन्धन बढ़ता रहा। हम कष्ट पाते रहे। इस प्रकार की स्थायी मनःस्थिति वास्तव प्रणाम है। यह प्रणाम जिनमें होता है निश्चय वे पहले से ही अतिशुद्ध प्रबल पुण्य के धनी होते हैं। अतः यह धर्म तो है ही किसी महान् धर्म का लक्षण भी है। **२८-दास्य**—तन मन से समर्पित व्यक्ति दास कहलाता है। समर्पण सूचक उसका क्रियाकलाप दास्य कहलाता है। नवनियुक्त सेवक सेवावृत्ति की दृढ़ता और सुरक्षा के लिये सदा अपने को सेवा में तत्पर रखता है। इससे स्वामी की सन्तुष्टि होती है और सेवक पुरस्कार भी पाता है। यह लौकिक व्यवहार भक्त लोग भगवान् के प्रति भी करते हैं। भक्तों की भक्ति से भगवान् की भक्ति पूरी होती है। भक्त को सभी लोग भक्त ही दिखाई पड़ते हैं। इससे वह समाज का समर्पित सेवक होता है। अपना उल्लेख सदा दास शब्द से ही करता है। यह वृत्ति कम पुण्य का फल नहीं है।

२९-सख्य—अपने प्रियतम प्रभु की सौहार्दपूर्ण नित्य सन्निधि का ध्यान रखना और उनके प्रति समयोचित सेवा करते रहना सख्य है। दास्य में

सेवा परायणता प्रधान होती है और सख्य में सन्निधि का ध्यान प्रधान होता है। द्वा सुपर्णा श्रुति और तदनुगामी पुराण बचनों में सख्य का प्रतिपादन है।

३०-आत्मसमर्पण—यह भक्ति का अन्तिम परिणाम है। इसे शरणागति, भरन्यास, आत्मनिपेक्ष आदि भी कहते हैं। श्रीवैष्णवपरम्परा में इसका बहुत आदर है। वहाँ इसे भक्ति से अतिरिक्त स्वतन्त्र मुक्ति साधन माना गया है। जीव माया के फन्दे में अनादि काल से पड़ा है। इसे निकलने का कोई मार्ग तो सूझता ही नहीं, निकलने की इच्छा भी नहीं होती। क्योंकि माया दुःखमय परिस्थिति बनाये रहती हुई भी सुखों की कल्पनाशय्या में सुलाये रहती है। किसी पुण्य के प्रभाव से कुछ चेतना होने पर और कुछ समय तक छूटने के बहुत उपाय करने के बाद भी जीव अपने को माया के उसी फन्दे में पाता है। आत्मा में माया के अनन्त संस्कार सोये रहते हैं। जगे हुये संस्कार जो काम क्रोधादि रूपों में उपलब्ध होते हैं उन्हें दूर करने के उपाय किये जाते हैं किन्तु सुप्त संस्कारों का कुछ पता न चलने से उनका नाश नहीं हो पाता। वे संस्कार साधक को संसार में डाल देते हैं। दुबारा साधना का उत्साह नहीं होता और संसारचक्र चलता ही रहता है। साधक के स्वयं प्रयत्नशील होने से भगवान् सहयोग नहीं करते। जो लोग सारा कर्तृत्व माया और मायापति में मानते हैं अतः मोक्षोपाय भी मायापति के द्वारा ही सम्भव मानते वे आत्मरक्षा की कभी भी चिन्ता नहीं करते। वे अपना कुछ भी नहीं मानते। सब कुछ परमात्मा का ही है। इससे मैं भी परमात्मा का ही हूँ ऐसा समझते हैं। अहंकार और कर्तृत्वाभिमान से परमात्मा आत्मा और जगत् के सम्बन्ध में भ्रान्तियाँ होती हैं, क्लेश होते हैं और परमात्मा के प्रति उचित कर्तव्य ध्यान में नहीं आते। यही संसारबन्धन है। इसकी निवृत्ति के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते रहना जीव का कर्तव्य होता है। माया से छुटकारा मायापति के अनुग्रह से ही सम्भव है। प्रार्थना से अनुग्रह होता है। स्वाभिमानशून्य व्यक्ति की प्रार्थना सफल होती है। सदाचार्य की कृपा से अहंकार ममकार कर्तृत्वाभिमान और जगत् में भोग्यताबुद्धि का त्याग होने पर आत्मसमर्पण होता है।

सेवा अर्थ वाले भज्धातु से भाव में क्तिन् प्रत्यय होने से भक्ति शब्द बनता है। सेवा का माने होता है प्रभाव लेना। इसके लिये सर्वप्रथम गुणश्रवण होता है। सुने हुए गुण अपने स्वभाव से श्रोता के मुख से बाहर

होने लगते हैं। इसके बिना श्रवण अधूरा होता है। प्रभावी श्रवण विस्मृति नहीं होने देता। तब मिलने की त्वरा बढ़ती है। प्रथम मिलन सेवा कहा जाता है। इससे अनुराग बढ़ता है और कुछ समर्पण की इच्छा होती है। अनुराग और अर्थ की स्थिति के अनुरूप समर्पण होता है। यही अर्चा या पूजा है। सेवा पूजा स्वाभिमान या गर्व के रहते भी होती है। इसका फल अच्छा नहीं होता इससे पूजक व्यक्ति स्वाभिमान त्याग की सूचना प्रणाम से देता है। प्रणाम की व्याख्या पहले हो चुकी है। इसमें अपनी सर्वथा अधीनता सूचित होती है। यह सूचना मौखिक और सांकेतिक होती है। इसकी वास्तविकता में सन्देह रह जाता है। बगुला भक्ति की सम्भावना रहती है। इसकी निवृत्ति दास्य भाव से होती है। इसमें सेवा तत्परता जारी रहती है। इससे प्रणाम की यथार्थता मानी जाती है। फिर भी सेवक दूर होकर बदल जाता है। बदलाव व दूरी न हो इसके लिये सख्य यानी सदा साथ रहना होता है। गुणानुभव दूरी का वारण करता है। साथ में ही बने रहने की इच्छा जारी रहती है और गुणवान् में गुणों की पूर्ति होने पर एवं अपनी रक्षा और विकास में अपनी अक्षमता का ध्यान रहने पर अपना सम्पूर्ण समर्पण हो जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जो सर्वत्र देखी जाती है। यह प्रक्रिया पुण्यप्रभाव से भगवान् के प्रति हो जाने से आत्यन्तिक कल्याण हो जाता है। प्रकृतिमण्डल में कुछ ऐसे प्रदेश हैं जहाँ पहुँचने पर संसारवासना सर्वथा समूल नष्ट हो जाती है। जीव को वहाँ पहुँचाने की क्षमता और अधिकार एकमात्र परमात्मा में है। जिस पर उनकी कृपा होती है उसकी वासनायें नष्ट होती हैं और वह मुक्ति प्राप्त करके नित्य स्वरूपानन्द में, अपने वास्तव स्वरूप में अवस्थित रहता है। यह उस आत्मसमर्पण का महानतम फल है जो भक्ति की पूर्वोक्त सभी अवस्थाओं के अन्त में होता है।

उक्त तीस गुणों या धर्मलक्षणों के नामों में पूर्वोक्त दश लक्षणों के दम, सत्य और शौच ये तीन नाम आ गये हैं। इन्द्रियनिगह का पर्याय शम आ गया है। शेष छः लक्षणों में धृति का अन्तर्भाव तितिक्षा ईक्षा युक्त आत्मविमर्शन में है। क्षमा का अन्तर्भाव तितिक्षा में है। अस्तेय का अन्तर्भाव त्याग में है। धी और विद्या का अन्तर्भाव यथासम्भव ईक्षा, स्वाध्याय, मौन आत्मविमर्शन और श्रवण में होता है। अक्रोध का अन्तर्भाव

सन्तोष में सम्भव है। अतः पूर्वोक्त दश गुणों में कोई छूटा नहीं है। अब देखना है कि कौन से गुण पूर्वोक्त दश से अधिक हैं। वास्तव में सबका अन्तर्भाव दश गुणों में ही है। गुणों की बहुत लम्बी सन्तान होती है इससे लक्षण और संख्या में अन्तर आना स्वाभाविक है किन्तु मानव में अभिव्यक्त जो भी गुण होते हैं वे उक्त दश से बाहर नहीं हैं।

देखें, सर्वत्र भगवद्दर्शन और श्रवणादि नवधा भक्ति अध्यात्मविद्या का फल है। इससे इन दश लक्षणों का अन्तर्भाव उस विद्या में ही है। समुचित वितरण सामान्य ज्ञान का फल है। इसका अन्तर्भाव ज्ञान में होगा। मनुष्यों की विपरीत चेष्टाओं पर दृष्टि पूर्वोक्त ज्ञान के ही अन्दर है। धर्म का विशेष कारण होने से इसे अलग से कहा गया है। मन का उलझाव विद्या विरुद्ध विषयों में न हो इसके लिये वाणी पर नियन्त्रण किया जाता है उसे मौन कहते हैं किन्तु वास्तव मौन है मन ही मन विद्या की आवृत्ति। इससे यह भी विद्या ही है। आत्मविमर्शन स्वस्वरूप चिन्तन को कहते हैं। यह आत्मविद्या का व्यावहारिक रूप है। विद्या में पारंगत लोगों की संगति से विद्या प्राप्त और दृढ़ होती है। इससे समदृक्-सेवा को अलग से कहा गया है। यह भी विद्या से बाहर नहीं है। सन्तोष और ग्राम्यचेष्टा मैथुन से विरति ये दोनों गुण शम दम के फल हैं। अतः इनका अन्तर्भाव शम दम में है। ब्रह्मचर्य ब्रह्मविद्या की पहली शर्त है। इसके बिना ब्रह्मविद्या केवल मौखिक ज्ञान रह जाती है। व्यावहारिकता के लिये एवं विद्यालाभ के लिये भी ब्रह्मचर्य आवश्यक है। इससे इसका भी अन्तर्भाव विद्या में ही होगा। त्याग वृत्ति सामान्य ज्ञान से बहुत अंशों में आ जाती है। शेष अंश की पूर्ति आत्मज्ञान से होती है। अतः इसका भी अन्तर्भाव फलरूप से विद्या में होता है। त्याग-गुण का फल और लक्षण आर्जव है। अतः परम्परया यह भी विद्या के अन्दर आता है। स्वाध्याय विद्या का मूल कारण है अतः कारणरूप से यह भी विद्या के अन्दर है। अहिंसा और दया क्षमागुण के पूरक हैं अतः कारणरूप से ये भी क्षमा के अन्दर हैं। पाप नाश के लिये कतिपय शास्त्रोक्त कष्टमय दिनचर्या नियम अपनाये जाते हैं। वे ही तप कहे जाते हैं। पापनाश से यथार्थ ज्ञान सुख और सुख-साधन प्राप्त होते हैं। इससे आत्मबल भी प्राप्त होता है। इन उपलब्धियों का अन्तिम फल होता है स्वरूप निष्ठा जो कि आत्मज्ञान का फल है। स्वाध्याय और शास्त्रीय

आत्मज्ञान का सहकारी होने से तप का भी अन्तर्भाव ज्ञान और विद्या में है। इस प्रकार नारदोक्त तीस लक्षण भृगुप्रोक्त दश लक्षणों से बाहर नहीं हैं। भृगु ने भी दश लक्षण बनाये नहीं न इनके लिये आदेश दिये हैं बल्कि मानवीय सहज स्वभाव का संकेतमात्र करके सुझाव दिया है कि इन दश लक्षणों को सम्हाल सुधार और बढ़ाकर मानव अभ्युदय निःश्रेयमार्ग में आगे बढ़ सकता है।

कुछ ऐच्छिक धर्म होते हैं जिन्हें बिना समझे या थोड़ा समझकर किसी देशकाल परिस्थिति में अपनाया जाता, पाला जाता और रुचि न रहने पर छोड़ दिया जाता है। ऐसे ही कतिपय धर्मों को भावुक विदेशी जनता ने कभी अपनाया, पाला और उन धर्मों का दुरुपयोग देखकर छोड़ भी दिया। छोड़ने में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। क्योंकि राजाश्रय हो जाने से छोड़ना अपराध माना जाने लगा। तब जनमत बनाने के लिये आत्मा-परमात्मा पुनर्जन्म आदि मूलभूत मान्यताओं पर तर्क कुठार चलाने पड़े। बड़ी मुश्किलों से उन्हें तथा कथित उस धर्म से छुटकारा मिला जिसके द्वारा गिरजाघरों में जाकर प्रार्थना करनी पड़ती थी, ईश्वर पर, ईसा पर विश्वास व्यक्त करना पड़ता था और पोप पापों में फंसकर नैतिक सामाजिक आर्थिक हानियाँ उठानी पड़ती थी। वहाँ आत्मा और परमात्मा ईसा जैसे भावुक भक्तों के द्वारा पहुँचे थे इससे तर्क कुठार देखते ही भाग गये। तब से वहाँ धर्मनिरपेक्षता नाम का धर्म बना, वैसे ही जैसे आजकल हिन्दी काव्य जगत् में अकविता अच्छन्द अरस अनादर्श के रूप में काव्य स्थानीय प्रयोगवादी रचनायें हो रही हैं।

अनुकरणप्रिय भारतीय मनीषा ने उनकी धर्म-निरपेक्षता को उसी आदरभाव से अपनाया जिससे छोटे बच्चे पिल्लों को लेकर सहलाते रहते हैं। बच्चों को समझाकर कोई पिल्लों का भाग्य बिगाड़ नहीं सकता। भारत में नास्तिकवाद के रूप में धर्मनिरपेक्षता पहले भी रही है किन्तु वह बहुत परिष्कृत और सुव्यवस्थित होने से राज्य चलाने में सक्षम थी। वह वास्तव में प्रकारान्तर से धर्मरक्षा ही थी। आज जो धर्मनिरपेक्षता चल रही है वह प्रकारान्तर से वह क्षुद्र स्वार्थलोलुपता है जिसमें राष्ट्रीय क्षति को जान-बूझ कर अनदेखी किया जा रहा है। यह अनदेखी वे ही कर रहे हैं जो राष्ट्ररक्षा का ढकोसलापूर्ण व्रत लिये हैं।

किसी भी राष्ट्र की रक्षा और विकास के लिये उपर्युक्त दश लक्षणों वाले सहज धर्म को समझना और विकसित करना पहली आवश्यकता होती है। प्रजा में धर्म रहने पर ही शासन उनकी सहायता कर सकता है। धर्महीन प्रजा की रक्षा भगवान् भी नहीं कर सकते। और जब शासन तन्त्र ही धर्महीन हो गया। झूठ बोलने रिश्वत लेने, विपक्ष से मिलकर राष्ट्र को हानि पहुँचाने में जब किसी भी पदाधिकारी को शर्म नहीं आती तो रक्षा कैसे सम्भव होगी। आज जो समस्त भारत राष्ट्र के अंग-अंग में भ्रष्टाचार अकर्मण्यता और रिश्वतखोरी व्याप्त है तथा सैकड़ों आतंकवादी संगठन इस राष्ट्र को क्षणभर में धूल में मिला देने का हौसला बनाये सक्रिय हैं वह सब गलत आजादी के समय बिना विवेक के अपनायी गयी अनियन्त्रित धर्म-निरपेक्षता का दुर्वार दुष्परिणाम है।

वही राष्ट्र सुरक्षित होता है जहाँ की प्रजा धर्मशील होती है। वहाँ का शासन राष्ट्रिय धर्म के प्रति आस्थावान् होता है, न कि निरपेक्ष। वहाँ धर्म के औपाधिक भेद धर्म के प्रति अनास्था नहीं बनाते बल्कि धर्मपालन में श्रद्धा को शक्ति देते हैं मानव का मूलभूत धर्म ही मानवता है। अतः उक्त धर्म की जय और अधर्म के नाश की कामना जनमन में हो यही शुभकामना है।

मत छोड़ो निजधर्म, कर्म करते ही जाओ।
इसका फल उत्कर्ष, आज सब तुम भी पावो।
नियम विश्व के नित्य, सनातन मिट न सकेंगे।
शुभ के शुभ फल अशुभ अशुभ के कट न सकेंगे।

अनुबन्ध–१

राष्ट्रिय एकता

आज भारत राष्ट्र के ऊपर खतरे के भीषण बादल चारों ओर से मंडरा रहे हैं। रक्षा का कोई ठोस उपाय नजर नहीं आ रहा है। विदेशी आतंकवादी बाहर से तो लगातार विनाश कर ही रहे हैं भीतर भी अनेक आतंकवादी संगठन भय और लोभ से जमाये गये अज्ञान के वश होकर केवल नाश चाहते हुए और करते हुए देश राष्ट्र एवं राष्ट्रिय एकता के गीत गा रहे हैं। जहाँ आतंकवादी गतिविधियाँ नहीं दीखतीं वहाँ अनैतिकता की भरी जवानी हर पुरुष के लिये एक भारी चुनौती बनी हुए है। यह पुंश्चली केवल अपने भोग के लिये अनेक फर्जी राजनीतिक संगठन खड़ी करती है। उनके द्वारा राष्ट्र का अपने ढंग से शोषण करती है। प्रत्येक केन्द्रीय प्रान्तीय मन्त्रालय के विभागों में ऊपर से नीचे तक रिश्वत के अवरोध कायम करती है। प्रत्येक अवरोध पर नियमित रूप से नैतिकता, मानवता, देशराष्ट्रहित, धर्म, कर्तव्य की बलि लेती है। जाति-धर्म-सम्प्रदाय जो कि आदर की वस्तुएँ हैं उन्हें दम्भ, पाखण्ड तथा छलप्रपञ्चों से मढ़कर कूड़ेदान की शोभा बना रही है। इसकी वक्र दृष्टि से मूर्छित मानवता अब जातपाँत धर्मसम्प्रदाय के भेद भावों से उठकर एक विशुद्ध राष्ट्रिय एकता की तलाश कर रही है। इससे विदेशी हथकण्डों इस्लाम और ईसाइयत को फैलाने में अच्छी सुविधायें मिल रही हैं। कहीं मुस्लिम या ईसाई का उत्पीड़न हो जाता है तो कांग्रेसपार्टी को भीषण पीड़ा होती है और जांच से पहले उसका सारा दोष धर्म सम्प्रदाय जात-पांत पर मढ़ती है। इसी से कहा जाता है अंग्रेज का भाई कंग्रेज। आज भारत की सारी राजनीतिक पार्टियाँ चाहे आपस में जितना भी भेदभाव रखती हों, वे सबकी सब इस कंग्रेज की ही सन्तान हैं। सबको एकमात्र विवेकहीन एकता चाहिये। एक साधुबाबा किसी यज्ञस्थल पर पहुँचे, वहाँ उन्हें पत्तल पर अनेक व्यंजनों सहित मीठे नमकीन

खट्टे भोज्यपदार्थ मिले। उन्होंने सबको अपने खप्पर में इकट्ठा डालकर पहले नदी के पानी में धोया फिर बहुत अंश भूतप्राणियों को दिये और थोड़ा सा स्वयं खाया। साधुबाबा ने सबको एक कर दिया। किन्तु इस एकता को समाज ने स्वीकार नहीं किया न स्वीकारने योग्य है। ऐसे ही एक सिद्ध बाबा थे। उनकी वाणी में सिद्धि थी। वे जो कहते थे वह होता था। साथ में कुछ दवाओं के साथ एक वैद्य रखते थे। रोगियों को दवायें दिलवाते थे। दवाओं के विषय में वे न तो वैद्य की सुनते थे न पुस्तकों को मानते थे। वे जिसे जो चाहते थे उसे वही दवा देते थे। रोगी को लाभ होता था। एक मरीज को घिसकर आंख में लगाने के लिये योगराज गुग्गुलु दिला दिया। उसे लाभ हुआ जबकि यह दवा बात दर्द में खाने की है। बाबाजी के प्रभाव से दवाओं में एकता हो गयी थी। इस एकता को चिकित्सक समाज ने नहीं अपनाया। विवेक विरुद्ध एकता समाज को मान्य नहीं होती। कांग्रेस जो एकता चाहती है वह अंग्रेज का भाई होने से ही। वह एकता राष्ट्रहित में नहीं है।

आइये विचार करें कि राष्ट्रहित में राष्ट्रिय एकता क्या हो सकती है और उसे हम कैसे अपना सकते हैं। शब्दों के माध्यम से ही समझें। राष्ट्र+इय् एक+तल=राष्ट्रिय एकता। राष्ट्र=भूभाग, निवासी, संस्कृति, शासन, इतिहास। इय्=इनसे सम्बन्धित। एक=समान, अविरोधी। तल्=स्वभाव। फलितार्थ हुआ कि पञ्चविध राष्ट्रपदार्थों में रहने वाली समानता, ऐसी कोई समानता नहीं है। यदि पाँच में से किसी एक में समानता चाहें तो वह भी दुर्लभ है। भूमि पद पद पर स्वभाव बदले रहती है। निवासी प्रत्येक मानव नया ही होता है। संस्कृति शासन इतिहास में भी एकरूपता नहीं है। तब कौन सी राष्ट्रिय एकता चाही और कही जाती है।

यदि कहें कि हमारा भारतवर्ष ऋषिमुनियों का देश है। आदिकाल में ऋषिमुनियों ने वेदादिशास्त्रों को समझकर जो कल्याणमार्ग बनाया है उसी पर चलने से समाज का कल्याण होगा। इससे हम ऐसा शासन चलायेंगे जिससे सबका कल्याण हो। एक कल्याण मार्ग ही राष्ट्रिय एकता है तो यह भी कथनमात्र हुआ। आज से पहले हजारों प्रकार की शासन पद्धतियाँ गुजर चुकीं। उनमें अवश्य ही कुछ अच्छी रही होंगी। वह नहीं चल पायीं तो आपकी नयी पद्धति कैसे चलेगी। परिवर्तनशील संसार में अपरिवर्तनीय क्या हो सकता है।

वास्तव उत्तर यह है कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है। सुख की इच्छा ही सही एकता है। इच्छामात्र से सुख नहीं मिलता। इच्छानुरूप प्रयत्न भी होने चाहिये। बच्चों की इच्छायें पूरी नहीं होतीं। बड़े लोग उन्हें बहलाकर हित मार्ग पर चलाते हैं। सुख की आशा बनाये रहना ही बहलाना है। बच्चों की तरह प्रत्येक अज्ञानी किसी ज्ञानी के द्वारा चलाया जाता है। ज्ञानी उसे प्रकट रूप से या पर्दे की आड़ से उसकी इच्छा से चलाता है, उस पर दबाव डालकर चलाता है, उसके हित में चलाता है, केवल अपने हित में चलाता है या उभयहित में चलाता है, यह सनातन नियम है।

साक्षरता से या शिक्षा से अज्ञान का अन्त न हुआ है न होना है। क्योंकि अज्ञान की जननी है दुराशा। यह आशा सुशिक्षतों में ज्यादा रहती है। वे ज्यादा अज्ञानी होते हैं। इससे यह मानना पड़ता है कि जिस राष्ट्र का संचालन दुराशारहित, राष्ट्रहितैषी धैर्यशील ज्ञानियों के द्वारा होता है वही सुख-समृद्धि का पात्र होता है। बालिगमताधिकार का नियम ठीक है किन्तु इसमें कुछ सुधार अपेक्षित है। पहले विद्यालयों में सुधार हो। हाईस्कूल पास छात्रों को दो तरह के चरित्र प्रमाण पत्र मिलने चाहिये। एक उत्तम चरित्र प्रमाण और दूसरा सामान्य चरित्र प्रमाण। उत्तम चरित्र प्रमाण वाले ही मतदान करें। चालीस से पार वय के लोगों का भी उत्तम चरित्र प्रमाण होना चाहिये। वे ही मतदान करें। अपराधी छविवालों को चुनाव का टिकट न दिया जाये। अच्छी छवि वालों की तादाद सुशिक्षासे बढ़ायी जाये।

राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का उसकी भावना संस्कार संकल्प योग्यता क्षमता के अनुरूप सुख प्राप्त होने का विश्वास ही राष्ट्रिय एकता है। एक अरब जनता में यह विश्वास किसी एक के प्रयत्न से नहीं होगा। यह विश्वास विद्युत की भाँति सदा बनता जाये और उसका उपयोग राष्ट्रिय प्रगति में होता रहे। विश्वास के खजाने में कभी कमी न आने पाये इसका भी ध्यान बना रहे।

विश्वास की उत्पत्ति के विरुद्ध उसका विघटन भी जारी रहता है। विघटनकारी तत्त्व सदा सक्रिय रहते हैं। वे अपनी हानि करके भी दूसरों का नाश चाहते हैं। वे सिर उठा न पायें इसका ध्यान रहना चाहिये। नागरिक समानता कहने की बात है। व्यवहार में समानता नहीं होती। चोर जेल में होते हैं। जो लोग चोरी को प्रश्रय देते हैं उन्हें जेल से निकट रखना

उचित होता है। जिनमें चोरी की प्रवृत्ति हो सकती है उन्हें राष्ट्र के उत्तरदायी पदों पर नियुक्ति न मिले इसका भी ध्यान होना चाहिये। राष्ट्र में नैतिकता की कथा नहीं होनी चाहिये बल्कि नैतिकता की खेती होनी चाहिये। यह खेती शिक्षा संस्थानों में ही सम्भव है। आज इन संस्थानों की जो दुर्दशा है वह अंग्रेजी शासन काल में, पराधीनता की स्थिति में नहीं थी। संस्थानों का क्रमिक सुधार होना चाहिये। इसमें २५ साल से कम समय नहीं लगेगा। सुधार की प्रक्रिया समझने में ही दस साल लग सकते हैं। स्वाधीनता से राष्ट्र का कितना विकास हुआ यह मैं नहीं जानता किन्तु शिक्षा और नैतिकता का जो पतन हुआ है वह किसी से छिपा नहीं है। कुशिक्षित और नीतिहीन जनता को कोई कल्याणकारी शासन नहीं मिल सकता। उसके सामने कोई राष्ट्रिय एकता भी नहीं होगी। इस प्रकार राष्ट्रिय एकता का जन्मस्थान हुआ सुशिक्षित, नीतिविद् मानवता। उक्त एकता हुई नीतिमार्गनिष्ठा। ऐहिक अपरोक्ष इष्टसाधनताबोध को नीति कहते हैं। यही है वास्तव सेक्युलरवाद। इसका अध्यात्मवाद से, सम्प्रदाय-निष्ठा से या धर्मनिष्ठा से, तदधीन अपरिहार्य भेदभाव से कोई विरोध नहीं है।

राष्ट्रिय एकता का माने यह नहीं है कि हम जिन भेदों को जानते और हृदय से मानते भी हैं और जो राष्ट्र के अहित में भी नहीं हैं उन्हें हम दम्भ से अनदेखी करें और मौखिक रूप से कोरी एकता का राग अलापते रहें। या किसी साधु बाबा की कही बिना समझे दुहराया करें। भेद न तो झुठलाये जाते और न मिटाये जाते हैं। सभी भेद नित्य होते हैं। कभी-कभी वे समझे न जा सकें यह सम्भव है कि किन्तु इस अज्ञान से हानि ही होती है। जैसे गेहूँ के आटे में थोड़ा सा चूना या सोडा मिल जाने पर भेद दिखाई नहीं पड़ता। उन्हें अलग भी नहीं किया जा सकता किन्तु भेद और उनके प्रभाव तो होते ही हैं। ऐसे ही शान्तिप्रिय और आतंकवादी मानव एक जैसे ही दीखते, खाते, पीते, साथ रहते हैं किन्तु उनकी मनोवृत्तियों में अज्ञात भेद तो रहते ही हैं जो कार्य से जाने जाते हैं। भेद का पयार्य है विवेक। विवेकज्ञान जिसे होता है उसे विवेकी कहते हैं। जो विवेकी होगा वह कार्य से पहले ही किसी छोटे कार्य के द्वारा भेद को लक्षित कर लेगा। भेद के छोटे बड़े बहुत से कार्य होते रहते हैं। जो उन्हें जानता है वही मनोवैज्ञानिक, सामुद्रिक, योगी या व्यावहारिक कहलाता है। उसी से

राष्ट्र की रक्षा हो सकती है। आज आतंकवादी संगठन घात लगाकर सीमा सुरक्षाबलों की हत्या करते रहते हैं। वे संगठन मनुष्य होते हैं, मनुष्यों में ही रहते हैं, उनकी मनोवृत्तियों को अधिकांश लोग समझ नहीं पाते हैं और जो समझते हैं वे उद्भावित नहीं करते। उनमें भय होता है या लोभ होता है। कोई भी विवेकी ऐसे अभेद-ज्ञान को जो वास्तव में भेदों का अज्ञान होता है, राष्ट्रिय एकता कहने की भूल नहीं करेगा।

आज समाज में क्या हो रहा है ? राष्ट्रघाती तत्त्वों का अनुपात कैंसर की भाँति बढ़ रहा है और वृद्धि के अनुपात में ही भेदनिरपेक्षता के पर्याय धर्मनिरपेक्षता के गीत गाये जा रहे हैं। मानो किसी समृद्ध गाँव को चोरों ने रात में घेर लिया हो और त्याग, वैराग्य, धर्म, शान्ति समाधि के उपदेश गा गाकर ग्राम वासियों को सुला रहे हों जिससे नींद की दशा में चोरी निर्विघ्न चलती रहे। व्यावहारिक जगत् में समानोद्देश्यकता ही एकता होती है। वही स्नेह, सौहार्द, सहानुभूति और आत्मीयता उत्पन्न करती है। उद्देश्य के राष्ट्रव्यापी होने से वही एकता राष्ट्रिय कही जाती है। एकता के लिये भेदक तत्त्वों को हटाया नहीं जाता। भेदक तत्वों की अपनी अलग भूमिका और उपयोगिता होती है। नाई, धोबी, चमार, लोहार, दर्जी, सोनार, कुम्हार और ताम्बूली की आवश्यकता समाज को सदा समान रूप से है। कोई अपना धन्धा नहीं छोड़ता और न धन्धों से सम्बन्धित शुभाशुभफल प्रभावों से बच सकता है। ऊँच-नीच की कल्पनाओं का यदि कोई आधार होता है तो वह कल्पना बनी ही रहती है। आधार नहीं रहने से कल्पना स्वयं मिट जाती है। जब कोई ब्राह्मण कुसंस्कार जन्य संगतिवश किसी यवनी से प्रेम कर लेता है तो धीरे-धीरे खुद मुर्गा खाने लगता है और चोटी, जनेऊ, सन्ध्या और पूजा छोड़ देता है। इसी तरह जब कोई अंग्रेज संस्कार संग वश भारतीय सनातन धर्म अपना लेता है तो खुद ही जनेऊ, माला, तिलक पासा की तलाश करके धारण करने लगता है और अण्डा, मीट, शराब और पाव रोटी छोड़ देता है। किसी को समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अरे एकता के मतवालो ! छोड़ न देना ड्रेस।
पशु न तुम्हें अपना पायेंगे, बन सकता है केस।।

अनुबन्ध-२

वर्गभेदनिवारण

आज कल भारत में जाति, वर्ग, धर्म और सम्प्रदाय सम्बन्धी आस्थायें बहुत क्षीण हो चुकी हैं। इससे इन भेद भावों को मिटाकर शुद्ध मानवता की कल्पना समयोचित मानी जा रही है। यह मान्यता उनमें ज्यादा है जो अपने में जातीय तिरस्कार का अनुभव कर रहे हैं। एवं वे भी यह मान्यता रखते हैं जो परिस्थितिवश जातीय धन्धे छोड़ चुके हैं और अपनी सन्तान को भी उस प्रकार के धन्धों से जुड़ने का विश्वास नहीं रखते। वर्ग धर्म सम्प्रदायों पर भी ऐसा ही चिन्तन है।

वास्तव में मानव अपनी आवश्यकताओं के लिये कुछ कर्म करता है। कर्म का सातत्य उसमें जाति जोड़ देता है जो सन्तान में भी पायी जाती है। लक्षणों से जाति की पहचान होती है। वर्ग विद्यालय के वर्गों की भाँति अस्थायी होता है किन्तु रुढ़िवश वह स्थायी भी माना जाता है। धर्म श्रद्धा-संगतिवश अनुकरण से, और सम्प्रदाय कुछ गम्भीर चिन्तन से आता है। कारण के शैथिल्य से वर्ग-धर्म-सम्प्रदाय शिथिल होकर नष्ट भी हो जाते हैं।

आज का मानव अर्थ को पहले की अपेक्षा अधिक प्रधानता देने लगा है। इससे वे बातें छूटती जा रही हैं जो अर्थ से सीधा सम्बन्ध नहीं रखतीं। जिन वातों से अर्थ मिलता है उनसे यह मानव अधिकाधिक चिपकता जा रहा है। उन बातों का दोष देखना वह पाप समझता है। जाति, वर्ग, धर्म और सम्प्रदाय अर्थ से सीधा सम्बन्ध नहीं रखते इससे इनका त्याग हो रहा है और जो लोग त्याग में पीछे छूट रहे हैं उन्हें भी त्याग के लिये प्रोत्साहित किया जा रहा है। किन्तु जिस धन को हम न्यायार्जित समझते हैं उसमें भी बहुत से दोष होते हैं। उपार्जन के क्रम में अनिवार्य रूप से बहुत से दोष

आ जाते हैं। सञ्चय की स्थिति में दोष अधिक बढ़कर अनियन्त्रित मदमान की सृष्टि करके मानव को अनर्थों की श्रृंखला में डाल देते हैं। जब न्यायार्जित धन की यह करामात है तो अन्यायार्जित का क्या कहना है।

आज का मानव जो अधर्म को ही धर्म का दर्जा देने लगा है और अभ्युदय के विपरीत सोचने में लग गया है उसका मूल कारण है अर्थदोष। इस दोष से जो चित्त बिगड़ चुका है उसे सुधारने के लिये प्रमाण तर्क युक्ति संगति सामदाम सब विफल हो जाते हैं। जब तक खून में पित्त प्रवाहित होता रहता है तब तक चाँदी सोना समझ में आती है। जिस चित्त में अर्थदोष का जमाव नहीं है उसमें निम्नलिखित बातें जम सकती हैं।

जाति न तो बनायी जाती है न अपनायी जाती है न रखी जाती है न हटायी जाती है। जाति का पर्याय है जन्म। जन्म को ही जाति कहते हैं। कोई प्राणी अपने पूर्व कर्मों के अनुसार जन्म पाता है। कुल देश काल सम्बन्ध को जन्म या जाति कहा जाता है। इन सम्बन्धों को न झुठलाया जा सकता न छोड़ा जा सकता है। जातियों की पहचान और व्यवहार के लिये कुल देश क्रिया आकार आदि के वाचक शब्दों को जोड़ा जाता है। जैसे दाधीच, भारद्वाज, कौण्डिन्य, यादव, चौहान, गौतम आदि एवं बंगाली, उड़िया, मद्रासी, कन्नड़, मराठा, कनौजिया, सरयूपारी आदि एवं बाजपेयी, अग्निहोत्री, पौराणिक, ज्योतिषी, व्यास, चौधरी, बजाज खवास, कपरदार आदि एवं बड़ा, मझला, छोटा भारी हल्का ठोस पोला आदि। उदाहृत सभी जातिवाचक शब्द सम्बन्ध सूचित करते हैं। सम्बन्ध के द्वारा ही जातियों का बोध होता है।

जब जातियों को छोड़ने या मिटाने की बात कही जाती है तो वहाँ जातीय मर्यादाओं से तात्पर्य होता है। हल्के स्वभाव के लोग मर्यादा पालन नहीं कर पाते। वे ही ऐसी बातें उठाते हैं। मर्यादापालन महत्ता का सूचक होता है। इसी से सम्मानसूचक सम्बोधन के रूप में मर्यादासागर शब्द का प्रयोग होता है। आजकल जातिवाद मिटाने के लिये विजातीय दाम्पत्य को अच्छा माना जा रहा है। किन्तु यह मान्यता किसी धार्मिक या वैज्ञानिक आधार पर नहीं है बल्कि कतिपय मन्द जनता को भुलावा देकर उसे अपने पक्ष में करने के लिये है। विजातीय दाम्पत्य से जो सन्तान उत्पन्न होती है

वह काम की बातें बढ़-चढ़ कर करती है किन्तु काम के समय पीछे हो जाती है, मुकर जाती है या बहाना बना लेती है। ऐसे लक्षण उनमें भी देखे जाते हैं जो असली माने जाते हैं। उनमें सूक्ष्म सांकर्य होता है। उनकी माता हल्के स्वभाव की होने से जल्दी से परपुरुष में स्पृहा बना लेती है। ऋतु स्नानोपरान्त स्पृहा होने से औरस सन्तान भी परपुरुषतुल्य हो जाती है। इसी से आयुर्वेद कहता है कि

ऋतुस्नाता तु सम्पश्येद् यादृशं नरमंगना।
तादृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेत्ततः।।

सूक्ष्मसांकर्यवारण के लिये चाहिये कि सुन्दरी ऋतुस्नानोपरान्त प्रथम अपने पति का ही दर्शन करे अथवा पति के चित्र का दर्शन करे।

कोई भी सन्तान अपनी माता का शील और भावना तथा पिता का ज्ञान और पौरुष प्राप्त करती है। उत्तम विधि से दारपरिग्रह होने पर सन्तान उत्तम स्वभाव की होती है। दूसरे या तीसरे पुरुष से प्रेमसम्बन्ध होने से जो सन्तान होती है वह माता के समान ही अस्थिर भावना वाली होती है। मन्दबुद्धि माता की सन्तान पिता की योग्यता से बुद्धि प्राप्त करती है किन्तु लोक व्यवहार में वह विफल होती है। इससे माता पिता दोनों में उत्तम भावना और विवेक होना आवश्यक होता है उत्तम सन्तान के लिये।

प्रत्येक जाति का कोई अच्छा गुण होता है। होना भी चाहिये। उस गुण की रक्षा और विकास के लिये सजातीय, वैध, आदर्श विवाह ही अच्छा होता है। आजकल सामाजिक सुधार और विकास के नाम पर स्त्रियों को सभी क्षेत्रों में पुरुषों के तुल्य अधिकार दिलाने के प्रयास हो रहे हैं। यह बहुत अंशों में अच्छा है किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि शारीरिक बनावट के समान ही मानसिक बनावट भी स्त्रियों की असाधारण होती है। स्त्रियों में भावनाओं की प्रधानता होती है जबकि पुरुषों में चिन्तन की। चिन्तन बाहर से धन लाने के समान है और भावना उसे सुव्यवस्थित और सुरक्षित करने के समान है। माता की भावना अच्छी होने से सन्तान सुखी होती है और पिता का चिन्तन सही होने से वह प्रगति करती है। अनियन्त्रित यौन सम्बन्ध या उसकी सतत कल्पना या उसके उपयुक्त सामाजिक परिवेश होने से स्त्री-पुरुष दोनों के चिन्तन और भावना में

समान रूप से दोष आते हैं। भावना के बिगड़ने से चिन्तन भी बिगड़ता है। इसी से सुशिक्षित लोग भी गीता का अर्थ नहीं समझ पाते। अनियन्त्रित यौन सम्बन्ध के बाद की पीढ़ी बरबाद ही निकलती है।

पश्चिमी राष्ट्रों में फ्री सेक्स सुना जाता है। वहाँ का वायुमण्डल उसके लिये कुछ अनुकूल होगा। सन्तान पर कुप्रभाव कम पड़ता होगा। किन्तु वहाँ भी सन्तान को माता की ही भावना और पिता का चिन्तन प्राप्त होता है। वहाँ वंशों के गौरव पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कुछ वंश अधिक गुणवान् माने जाते हैं। वहाँ नेकनीयती अधिक होती है। अपने वचन का पालन पूर्ण निष्ठा से किया जाता है वहाँ जातियों का अधिक भेद नहीं होता। इन बातों से वहाँ की सन्तान में माता-पिता के स्वेच्छाचार का प्रभाव कम लक्षित होता होगा।

भारत में दूर-दूर के विभिन्न जातियों के लोग जीविका के लिये एक स्थान पर चिरकाल तक ठहरते हैं। इससे उनका एक अलग वर्ग बन जाता है। परिस्थितिवश वे अपना और दूसरों का भेद खोलना नहीं चाहते। इस अनिच्छा से सम्बन्ध प्रगाढ़ भी हो जाते हैं। यौन सम्बन्ध भी बनते हैं। संकर सृष्टि होती है। ऐसे ही वातावरण के लोग जात-पात छुवा छूत भेदभाव मिटाने का प्रस्ताव ज्यादातर लाते हैं। किन्तु परदेश की व्यवस्था घर पर लागू नहीं होती। कोई अपवाद स्वयं नियम नहीं बन जाता। भेदों को भूलने या उपेक्षित रखने से भेद मिट नहीं जाते। वे अपने काम करते ही रहते हैं। इससे सभी भेदों को ध्यान में रखते हुए ही अभेद भाव और सौहार्द कायम करना चाहिये। भेद चाहे जितना हो, बहुत बार उसे भूलना पड़ता है और अभेद चाहे जितना हो बहुत बार उसमें भारी दरार पड़ जाती है। दरार का कारण कोई छिपा भेद ही हुआ करता है। अपस्वार्थ भाव सबसे बड़ा भेद होता है। यही भेदों को बढ़ाया करता है। सज्जनों के भेद बुरे नहीं होते और बुरों में चाहे जितना अभेद हो पर कलह के लिये भेद मिल ही जाते हैं।

मानव समाज में अभेद कायम करने के लिये बहुत से उत्तम आधार हैं किन्तु वे आधार सत्पुरुषों को ही प्राप्त होते और सत्पुरुषों में ही लागू होते हैं। किसी आतंकवादी संगठन या व्यक्ति से कोई शान्तिप्रिय संगठन या

व्यक्ति सभी भेद भूलकर अभेद भरी मैत्री कायम करने की नहीं सोच सकता। यदि कोई प्रयास करता है तो वह भूल से या किसी नीति के तहत करता है और उसका फल चाहे जो हो किन्तु अभेद स्थापन नहीं होता। इन बातों को अच्छी तरह से समझने के लिये हमारे भारतदेश में उदाहरणीय अनेक प्रसिद्ध प्राचीन वर्ग हैं। जो स्वार्थान्ध नहीं होगा उसे सब कुछ दिखाई पड़ेगा। शान्त चित्त में भेद संघर्ष नहीं कराते।

कमल-कमल-जन्मनोः कमप्यभेदं,
न हि कुरुते मतिमान्न कञ्च खेदम्।
भवति च चिर-संगिता द्वयोरभेद्या,
शिशिरधियां नहि किञ्चिदस्ति भिन्नम्।।

कमल से ब्रह्माजी की उत्पत्ति मानी जाती हे। उससे मधु उत्पन्न होता हे। उसमें कोई कीट भी जन्म ले सकता है, उससे ही उसका सुन्दर गठीला काला बीज बनता है। कमल से किसी का मेल नहीं है। कोई बुद्धिमान कमल से उसकी तुलना नहीं करता और समानता न होने से दुःख भी नहीं मानता। कार्य कारण दोनों में विषमता है, साथ भी है, साथ छूटता भी नहीं। शान्त चित्तवालों को कोई भेद नहीं खटकता।

जो विवेक चाहो तो प्यारे, मत विवेक को भूलो।
निज अज्ञान मान से जग में, वृथा कभी मत फूलो।।

मानवता की परख
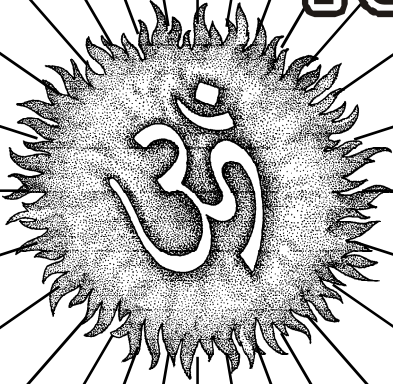
डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय

डॉ. विन्ध्येश्वर पाण्डेय

इस निबन्ध में-

ऐसा कुछ नहीं लिखा है फिर भी
आप अपनी प्रज्ञा से पायेंगे कि मैं
क्या हूँ, क्या बन सकता हूँ, सामने
वाला क्या है, इससे क्या हानि-लाभ
सम्भव है, धोखे क्या-क्या हो सकते
हैं उनसे कैसे बचा जा सकता है एवं
सदा सुखी कैसे रहा जा सकता है।

\- लेखक